

ब

बदरीनाथ शुक्ल

(Badrinath Shukla)

बदरीनाथ शुक्ल (1898-1988) काशी की पाण्डित्य परम्परा में आन्वीक्षिकी विद्या के अनन्य उपासक थे। जीवन भर न्याय एवं नव्य न्याय दर्शन का अध्ययन-अध्यापन करते हुए वे न्यायशास्त्र का देशव्यापी प्रचार-प्रसार करते रहे। अपने अध्यवसायी जीवन के उत्तरार्द्ध में उन्होंने कुछ ऐसी स्थापनाएँ भी कीं जिससे न्याय दर्शन को एक नयी दिशा प्राप्त हुई। शुक्ल ने न्याय दर्शन के तहत आत्मवादी अवधारणा का परिष्कार करते हुए देहात्मवाद की स्थापना की। आत्मवाद की मान्यता है कि प्राणी अपने पूर्वार्जित कर्म से उत्पन्न अदृष्ट के अधीन होने के कारण अपनी स्थिति में परिवर्तन के लिए स्वतंत्र नहीं होता। इस कारण उसे अपने अभिशप्त वर्तमान और दूसरों द्वारा किये जा रहे शोषण-उत्पीड़न को मौन भाव से सहना पड़ता है। उसमें सामाजिक-आर्थिक विषमता दूर करने तथा इस विषमता के प्रति उदासीन रहने वाले शासन तंत्र के उन्मूलन का आग्रह नहीं होता। परंतु बदरीनाथ शुक्ल का देहात्मवाद एक ऐसा समाज-दर्शन प्रस्तुत करता है जिसमें मनुष्य के लिए बोध सक्रिय रूप से कार्य करते हुए संदेश देता है कि उसे अपने पूर्वकृत कर्म के दबाव में दूसरों द्वारा किये जाने वाले शोषण-उत्पीड़न को सहने और अपनी वर्तमान दलितावस्था को कर्मफल मान कर निष्क्रिय बने रहने से इनकार कर देना चाहिए। देहात्मवादी समाज-दर्शन द्वारा व्यक्ति अपने हालात बदलने में स्वतंत्र रूप से प्रवृत्त हो सकता है और इस प्रकार न्यायपूर्ण सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था निर्मित कर सुंदर विश्व का निर्माण कर सकता है।

बदरीनाथ शुक्ल की आरम्भिक शिक्षा-दीक्षा काशी में ही परम्परागत ढंग से हुई थी। शास्त्री एवं न्यायाचार्य की उपाधि उन्होंने काशी हिंदू विश्वविद्यालय से प्राप्त की। महामहोपाध्याय बालकृष्ण मिश्र (1887-1943) के अन्तेवासी हो कर उन्होंने प्राचीन न्याय एवं नव्य न्याय के दर्शन पर असाधारण अधिकार प्राप्त किया। उनका अध्यापकीय जीवन सम्पूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से जुड़ा रहा। इस विश्वविद्यालय के कुलपति पद को भी उन्होंने सुशोभित किया। केशव मिश्र प्रणीत *तर्कभाषा*, सदानन्द यति कृत *वेदांतसार* और *व्याप्ति पंचक* जैसे ग्रंथों पर उन्होंने हिंदी में व्याख्या लिखी। गंगेशोपाध्याय के *तत्त्वचिंतामणि* जैसे प्रौढ़ ग्रंथ के 'विधिवाद प्रकरण' पर उनकी संस्कृत टीका प्रसिद्ध है। जैन न्याय के क्षेत्र में *शास्त्रवार्ता समुच्चय* नामक ग्रंथ की हिंदी व्याख्या और *खण्डन खण्डखाद्य* का सफल सम्पादन भी उन्होंने किया। *आरम्भवाद* और *शतश्लोकी* उनकी दो मौलिक कृतियाँ हैं। *आरम्भवाद* में उन्होंने न्यायदर्शन के मुताबिक कार्य-कारण सिद्धांत की स्थापना मौलिक रीति से की है। *शतश्लोकी* का प्रतिपाद्य विषय न्याय दर्शन में मुक्ति का स्वरूप है। श्रीहर्ष ने न्यायसम्मत मुक्ति को शिलावत चेतनाशून्य करार दिया था। इसी प्रकार की आलोचनाओं के प्रत्युत्तर में *शतश्लोकी* एक ऐसा प्रबंध है जो न्यायसम्मत मुक्ति की अवस्था की सुखरूपता का प्रतिपादन करता है। बदरीनाथ शुक्ल की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रचना *न्यायशास्त्रीय विचार पद्धत्या देहात्मवादस्य सम्भावना* है जो अपनी प्रकृति में एक निबंध अथवा लघुकाय प्रकरण ग्रंथ जैसी है। यह उनकी एक ऐसी विचोरोत्तेजक कृति है जो उन्हें अभिनव देहात्मवाद के संस्थापक आचार्य के रूप में प्रतिष्ठापित करती है।

आत्मवाद एवं अनात्मवाद भारतीय दर्शन की दो प्रमुख धाराएँ रही हैं। दोनों धाराओं की तत्त्व-दृष्टि एक-दूसरे के

विरोध में सत्ता को क्रमशः नित्यतावादी और क्षणिकवादी प्रतिमान में देखती है। वैदिक परम्परा के आस्तिक दर्शन आत्मवादी तत्त्व-दृष्टि का ही अपने-अपने तरीके से प्रतिनिधित्व करते हैं। उन सभी की ज्ञानमीमांसा नीतिदर्शन और आध्यात्मिक साधनाएँ आत्मवादी दृष्टि में ही मूलित हैं। अतः इंद्रियात्मवाद, शरीरात्मवाद और प्राणात्मवाद जैसे विचारों के संदर्भ पूर्वपक्ष के रूप में तो भारतीय परम्परा में उपस्थित होते रहे हैं लेकिन ऐसे सिद्धांतों की तात्त्विक स्वायत्तता को कभी पुरस्कृत नहीं किया गया। ऐसी स्थिति में बदरीनाथ शुक्ल का देहात्मवाद, जो अपने स्वरूप में लोकायतिक भी नहीं है, निश्चित रूप से ही एक क्रांतिकारी प्रतिपादन है। हालाँकि उन्होंने इसे न्याय दर्शन सम्मत आत्मवादी अवधारणा के परिष्कार बतौर प्रस्तावित किया है, लेकिन उनका यह प्रतिपादन अपनी व्याप्ति में समस्त आत्मवादी दर्शनों के समक्ष एक वैकल्पिक सिद्धांत के रूप में खड़ा होता प्रतीत होता है।

न्याय-वैशेषिक सम्मत आत्मा की अवधारणा का सार यह है कि आत्मा दिक् और मन से भिन्न नवम् द्रव्य है। यह आत्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न है। वह शरीर इन्द्रिय मन तथा प्राण से भी भिन्न है। वह सभी मूर्त द्रव्यों के साथ संयुक्त होता है तथा वह कर्ता एवं भोक्ता है। सभी मूर्त द्रव्यों के साथ उसका संबंध होने पर भी जिस देह के साथ उसका अपूर्व-अर्जित अदृष्ट के कारण विलक्षण संयोग रूप भोगनियामक संबंध स्थापित होता है, उसी देह से पूर्वकर्मों के ऊँच-नीच सुख-दुःखात्मक फलों को भोगा जाता है और नये-नये कर्म करते हुए पुण्य-पाप रूप धर्माधर्मों से अपने कोश में वृद्धि होती रहती है। नये-नये अनुभवों से प्राप्त संस्कार की राशि में भी वृद्धि होती रहती है। सभी प्रकार के क्रिया-कलापों से उसके अदृष्ट से आकृष्ट मन उसकी सहायता करता है। ऐसे जीवात्म पद वाच्य आत्मा को न्याय-वैशेषिक दर्शन में ज्ञान, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना, सुख और दुःख इन नौ विशेष गुणों तथा संख्या, परिणाम, पृथकत्व, संयोग और विभाग जैसे पाँच सामान्य गुणों का आश्रय माना गया है।

बदरीनाथ शुक्ल का दावा है कि 'आत्मा नातिरिक्त द्रव्यं देहमनोभ्यामेव तत्साधनीयस्य निखिल प्रयोजनस्य निर्वर्तयितुं शक्यत्वात्' अर्थात् आत्मा अतिरिक्त द्रव्य नहीं है क्योंकि अतिरिक्त आत्मा द्वारा जो भी साधनीय प्रयोजन हैं वे सब कुछ देह और मन द्वारा ही सम्पादित किये जा सकते हैं। अपनी इस प्रतिज्ञा को सिद्ध करने के लिए उन्होंने अतिरिक्त आत्म-द्रव्य विषयक न्यायवैशेषिक मान्यता में परिवर्तन किया है। परम्परागत न्यायवैशेषिक मान्यता में जहाँ ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न इत्यादि को आत्मा का विशेष गुण माना गया है वहीं बदरीनाथ शुक्ल ने इन सभी गुणों को देह के विशेष गुण नहीं बल्कि सामान्य गुण के रूप में रूपांतरित

कर दिया है। पुनः धर्म, अधर्म एवं संस्कार को वे मन के विशेष गुण मानने की अभ्युक्ति प्रस्तुत करते हैं। इस सैद्धांतिक परिवर्तन के विरोध में जितनी आपत्तियाँ उठायी जा सकती हैं उन सब का परिहार करते हुए उन्होंने अपने इस नवीन अभिमत की संगति भी बैठायी है। इसका परिणाम यह होता है कि सभी भूमिकाओं को अवाप्त करते हुए मनयुक्तदेह देहातिरिक्त आत्म द्रव्य की स्थानीय हो जाती है।

न्यायवैशेषिक परम्परा में ज्ञानादि को देह का गुण मानने में अनेक दोष प्रदर्शित किये गये हैं। अतः यह देखना प्रासंगिक होगा कि बदरीनाथ शुक्ल उन दोषों का परिहार करते हुए किस प्रकार अपने देहात्मवाद से उसकी संगति बैठाते हैं। पहली बात तो यह है कि यदि शरीर ज्ञानादि का आश्रय होता तो मृत शरीर को चैतन्य होना चाहिए। इस व्यभिचार दोष को देहात्मवादी प्रत्युत्तर यह है कि मन में धर्म एवं अदृष्ट रहते हैं परंतु मरणकाल में शरीर के साथ मन के संबंध का विनाश हो जाता है। अतः मृत शरीर में चैतन्य का अनुभव नहीं होता। वस्तुतः अतिरिक्त आत्मा को मानने वाले भी इस दोष का परिहार इसी रूप में करते हैं। दूसरी बात यह है यह कि शरीर को ज्ञानादि का आश्रय मानने पर बाल्यकाल में जो विलोकित है वार्धक्य काल में उसके स्मरण की अनुपपत्ति होगी। इस अनुपपत्ति का परिहार करते हुए कहा जा सकता है कि अनुभवात्मक ज्ञान शरीर में उत्पन्न होता है परंतु उस ज्ञान से जन्य संस्कार मन में उत्पन्न होता है। अतः मन में रहने वाले संस्कार की महिमा से बाल्यकाल में अनुभूत हुए का वृद्धावस्था में स्मरण सम्भव है। तीसरी बात यह कि सद्यः समुत्पन्न बालक में स्तनपान की प्रवृत्ति के लिए इष्टसाधनता का ज्ञान आवश्यक है। शरीरातिरिक्त आत्मा को चैतन्य मानकर तथा पूर्वजन्म के आधार पर ही इत्याकारक इष्टसाधनता का ज्ञान सम्भव है। देहात्मवादी पक्ष से इस आपत्ति का परिहार करते हुए कहा जा सकता है कि अनुभव का संस्कार के प्रति और संस्कार का स्मरण के प्रति 'स्वाश्रयविजातीयसंयोगसंबंध' से कारणत्व है। पुनः पूर्वजन्म के शरीर का सहयोगी जो मन है उस मन का पूर्वजन्म के शरीर से जन्य अदृष्ट के कारण सद्योजात बालशरीर में भी प्रवेश हो जाता है। इस कारण पूर्वजन्मानुभूत अर्थ का स्मरण होकर इष्टसाधनता का ज्ञान सम्भव है। अतः देहात्मवादी दृष्टि से भी नवजात शिशु में स्तनपान की प्रवृत्ति की व्याख्या हो जाती है।

चौथी बात यह कि ज्ञानादि को देह का गुण मानने पर कृतहान और अकृताभ्यागम की आपत्ति आयेगी, क्योंकि जिस शरीर द्वारा पाप-पुण्य किये हैं उसके द्वारा उस पाप-पुण्य का फलभोग देहात्मवाद में सम्भव नहीं होगा। इस आक्षेप का परिहार करते हुए बदरीनाथ शुक्ल की अभ्युक्ति यह है कि वर्तमान शरीर द्वारा किये गये जिन कर्मों का फल अभी भोगा नहीं गया है उन कर्मों द्वारा उत्पन्न धर्म और अधर्म रूपी अदृष्ट

का आश्रय मन ही उन कर्मों का अधिष्ठाता है और उस मन का पूर्वजन्मकृत कर्मों से जन्य अदृष्ट द्वारा उत्पादित शरीर में प्रवेश हो जाता है। इस प्रकार से उस शरीर में उन कर्मों का फलभोग और उन कर्मों की सार्थकता दोनों ही सम्भव होती है। पुनः यह भी द्रष्टव्य है कि नूतन शरीर में भी पूर्वदेह द्वारा कृत कर्मों का ही फल प्राप्त होता है अतएव अकृताभ्यागम का भी प्रसंग नहीं उठता। इसके अतिरिक्त बदरीनाथ शुक्ल एक दूसरी अभ्युक्ति भी प्रस्तुत करते हैं कि देहात्मवाद में यह नियम मानना आवश्यक नहीं कि जिसने जो कर्म किया है उस कर्म का फल उसको ही प्राप्त होना चाहिए। इसके स्थान पर यह नियम मानना अधिक उचित प्रतीत होता है कि जिस मन द्वारा अधिष्ठित शरीर से कर्म किया जाता है उसका फल उसी मन के द्वारा अधिष्ठित शरीर से भोगा जाता है। इस प्रकार शरीरातिरिक्त आत्मवाद के बदले देहात्मवाद को मानने से जो भी तत्त्वमीमांसीय एवं ज्ञानमीमांसीय कठिनाइयाँ आ सकती हैं उन सभी का परिहार करते हुए बदरीनाथ शुक्ल ने अपने देहात्मवाद को ज्ञानाश्रयी और ज्ञानस्वरूप दोनों ही प्रकार के अतिरिक्त आत्मवाद के समानांतर एक बेहतर विकल्प के रूप में स्थापित किया है। इस अभिनव देहात्मवाद को संदर्भ बनाकर उन्होंने कर्म, पुनर्जन्म, संसार, अनुभव, स्मृति, संस्कार, प्रत्यभिज्ञा, यज्ञ-यज्ञादि, लोकसंग्रह एवं बंधन-मोक्ष आदि की भी सुसंगत व्याख्या की है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह भारतीय संस्कृति की मूल्य-व्यवस्था को अक्षुण्ण रखते हुए उसकी कुछ खामियों को दूर करने का सैद्धांतिक आधार भी प्रस्तुत करता है।

देखें : आर्यभट्ट और *आर्यभटीय*, उपनिषद्, कपिल, *अर्थशास्त्र* और कौटिल्य, गोपीनाथ कविराज, गोविंद चंद्र पाण्डे, चैतन्य महाप्रभु, जैन दर्शन, न्याय दर्शन, दया कृष्ण, नंद किशोर देवराज, न्याय दर्शन, नागार्जुन, पतंजलि और *योगसूत्र*, पाणिनि और *अष्टाध्यायी*, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, पुराण, पूर्व-मीमांसा दर्शन, बादरायण, बौद्ध दर्शन, *भगवद्गीता*, भरत और *नाट्यशास्त्र*, मुकुंद लाठ, *भागवत पुराण*, *महाभारत*, यशदेव शल्य, योग दर्शन, रामानुजाचार्य, लोकायत, वात्स्यायन और *कामसूत्र*, वेदांत दर्शन, वैशेषिक दर्शन, शंकराचार्य, षड्-दर्शन-1 और 2, संस्कृत काव्यशास्त्र, स्मृति-साहित्य, सांख्य दर्शन-1 और 2, सिद्ध-नाथ परम्परा।

संदर्भ

1. बदरीनाथ शुक्ल (1983), *न्यायशास्त्रीयविचारपद्धत्या देहात्मवादस्य सम्भावना*, सरस्वती सुषमा, सम्पूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी.
2. बलिराम शुक्ल (2006), 'आचार्य बदरीनाथ शुक्ल का देहात्मवाद', अम्बिकादत्त शर्मा (सम्पा.) (2006), *भारतीय दर्शन के 50 वर्ष*, विश्वविद्यालय प्रकाशन, सागर.
3. राजाराम शुक्ल (2000), 'आचार्यबदरीनाथशुक्ल-भिमतनव्यदेहात्मवादपरीक्षणम्', *उन्मीलन*, वर्ष 14 अंक 2.

4. सच्चिदानंद मिश्र (2008), 'न्यायवैशेषिक परम्परा और देहात्मवाद', *दार्शनिक त्रैमासिक*, वर्ष 54 अंक 4.

— अम्बिकादत्त शर्मा

बंगाल का नवजागरण

(Bengal Renaissance)

उन्नीसवीं सदी और बीसवीं सदी के शुरुआती वर्षों के बंगाल में हुए समाज सुधार आंदोलनों, देशभक्त-राष्ट्रवादी चेतना के उत्थान और साहित्य-कला-संस्कृति में हुई अनूठी प्रगति के दौर को बंगाल के नवजागरण या बंगाल रिनैसाँ की संज्ञा दी जाती है। इस दौरान समाज सुधारकों, साहित्यकारों और कलाकारों ने स्त्री, विवाह, दहेज, जातिप्रथा और धर्म संबंधी स्थापित परम्पराओं को चुनौती दी। यही वह अवधि थी जब बुद्धिवाद और नास्तिकतावाद के आधार पर 'यंग बंगाल' आंदोलन और उसी के समांतर 'ब्रह्म समाज' का सामाजिक-धार्मिक आंदोलन उभरा। बंगाल के इस घटनाक्रम ने समग्र भारतीय आधुनिकता की निर्मितियों पर अमिट छाप छोड़ी। इसी नवजागरण के दौरान भारतीय राष्ट्रवाद के शुरुआती रूपों की संरचनाएँ सामने आयीं।

इस अवधि का सुव्यवस्थित अध्ययन करने वाले इतिहासकार सुशोभन सरकार लिखते हैं, 'अंग्रेजी राज, पूँजीवीदी अर्थव्यवस्था और आधुनिक पश्चिमी संस्कृति का सबसे पहला प्रभाव बंगाल पर पड़ा जिससे एक ऐसा नवजागरण हुआ जिसे आमतौर पर बंगाल के रिनैसाँ के नाम से जाना जाता है। ऋरीब एक सदी तक बदलती हुई आधुनिक दुनिया के प्रति बंगाल की सचेत जागरूकता शेष भारत के मुकाबले आगे रही। इस लिहाज़ से कहा जा सकता है कि भारत के आधुनिक जागरण में बंगाल द्वारा निभायी गयी भूमिका की तुलना युरोपीय रिनैसाँ के संदर्भ में इटली की भूमिका से की जा सकती है।' इतालवी रिनैसाँ की ही तरह बंगाल का नवजागरण कोई जनांदोलन नहीं था। इसकी प्रक्रिया और प्रसार भद्रलोक (उच्च वर्गों) तक ही सीमित था। भद्रलोक में भी नवजागरण का प्रभाव अधिकतर उसके हिंदू हिस्से पर ही पड़ा। इस दौरान कुछ मुसलमान हस्तियाँ भी उभरीं (जैसे, सैयद अमीर अली, मुशर्रफ हुसैन, साके दीन महमूद, काज़ी नज़रुल इस्लाम और रुकैया सखावत हुसैन), पर बंगाल का नवजागरण आंशिक रूप से ही मुसलमान नवजागरण कहा जा सकता है।



केशव चंद्र सेन (1838-1884)

मोटे तौर पर माना जाता है कि बंगाल के नवजागरण की शुरुआत राममोहन राय से हुई और रवींद्रनाथ ठाकुर के साथ उसका समापन हो गया। सुशोभन सरकार ने इसे पाँच चरणों में बाँट कर देखने का प्रयास किया है : पहली अवधि 1814 से 1933, जिसकी केंद्रीय हस्ती राजा राममोहन राय थे। 1814 में वे कोलकाता रहने के लिए आये और 1933 में उनका लंदन में देहांत हुआ। दूसरी अवधि उनकी मृत्यु से 1957 के विद्रोह तक जाती है। तीसरी अवधि 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना तक फैली हुई है। चौथी अवधि 1905 में बंगाल के विभाजन तक और पाँचवीं अवधि स्वदेशी आंदोलन से असहयोग आंदोलन और महात्मा गाँधी के नेतृत्व की शुरुआत तक यानी 1919 तक मानी गयी है।

राममोहन राय के बारे में एक दृष्टांत है जिसे उनकी शिष्यवृत्त के रूपक की तरह पढ़ा जा सकता है। कहा जाता है कि उनके दो घर थे। खान-पान, वेषभूषा और रहन-सहन के लिहाज से एक में किसी विक्टोरियन जेंटिलमैन की भाँति रहते थे, और दूसरे में पारम्परिक बंगाली ब्राह्मण की तरह। दरअसल, उनके व्यक्तित्व और कृतित्व की सबसे बड़ी विशेषता थी पूर्व और पश्चिम का संश्लेषण। लेकिन, यह दृष्टांत भी उनके रूढ़िभंजक व्यक्तित्व को परिभाषित नहीं करता। 1820 में उनकी कृति 'परसेप्ट्स ऑफ़ जीसस' का प्रकाशन हुआ जिसमें ईसा के नैतिक संदेश को ईसाई तत्त्वज्ञान और चमत्कार कथाओं से अलग करके पेश किया गया था। बंगाल में सक्रिय ईसाई पादरी वर्ग उनकी इस कोशिश से नाराज़ हो गया। उसके विरोध के परिणामस्वरूप राममोहन राय ने ईसाई जनता के नाम तीन अपीलें जारी करके अपने

विचारों को और स्पष्टता प्रदान की। इसी के साथ उन्होंने *ब्राह्मणीकल मैगज़ीन* का प्रकाशन करके हिंदू आस्तिकता के वैचारिक नैरंतर्य को वेदों के हवाले से रेखांकित करने की चेष्टा भी की। राममोहन ने अपने धार्मिक विचारों को धरती पर उतारने के लिए 20 अगस्त, 1828 को 'ब्रह्म सभा' का गठन किया। इस प्रक्रिया का परिणाम 1830 में एक चर्च की स्थापना के रूप में निकला और ब्रह्म समाज आंदोलन शुरू हुआ जो लम्बे समय तक बंगाली समाज की चेतना को प्रभावित करता रहा। 1818 से 1829 के बीच राममोहन राय ने सती प्रथा जैसी बुराई पर आक्रमण करते हुए तीन रचनाएँ प्रकाशित कीं। सती प्रथा के खिलाफ़ जनमत बनाने और अंग्रेज़ों को उस पर प्रतिबंध लगाने के लिए मनाने का श्रेय उनके प्रयासों को ही दिया जाता है। राममोहन ने आधुनिक शिक्षा और विशेष तौर से स्त्री शिक्षा के प्रसार में अगुआ भूमिका निभायी। उन्हें बांग्ला गद्य का निर्माता भी कहा जाता है।

बंगाल रिनैसाँ के इस दौर में राममोहन के प्रयासों को दोहरे विरोध का सामना करना पड़ा। एक तरफ़ उनका विरोध राधाकांत देव, गौरीकांत भट्टाचार्य और भवानी चरण बनर्जी जैसे सुधार विरोधी परम्परानिष्ठ लेखक और विद्वान कर रहे थे, वहीं उन्हें फ्रांसीसी क्रांति और इंग्लिश रैडिकलिज़्म से अनुप्राणित आलोचना का भी सामना करना पड़ा जिसका नेतृत्व 'यंग बंगाल' और उसके एंग्लो-इण्डियन नेता हेनरी विवियन डेरॉज़ियो के हाथों में था। यह अलग बात है कि डेरॉज़ियो के अनुयायी अपने कामों और वक्तुताओं से समाज को चौंकाने के अलावा कोई स्थाई असर नहीं डाल पाये। लेकिन, राममोहन की परम्परा के आधार पर समाज सुधारों का नरम कार्यक्रम उनकी मृत्यु के बाद भी जारी रहा। उसकी कमान देवेन्द्रनाथ ठाकुर और अक्षय कुमार दत्त के हाथों में थी। इसी दौरान ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने बाल विवाह और बहुविवाह के खिलाफ़ मुहिम चलायी। हालाँकि यंग बंगाल आंदोलन 1842 में विधवा विवाह के पक्ष में आवाज़ उठा चुका था, पर विद्यासागर के प्रयासों से ही इसे लोकप्रिय आंदोलन का रूप मिला।

1857 के विद्रोह के बाद बंगाल के पुनर्जागरण ने साहित्यिक क्रांति और उसके ज़रिये राष्ट्रवादी चिंतन के युग में प्रवेश किया। नील की खेती करवाने वाले अंग्रेज़ों के जुल्मों के खिलाफ़ किसानों के संघर्ष में बंगाली बुद्धिजीवियों ने भी अपनी आवाज़ मिलायी। दीनबंधु मित्र के नाटक 'नील दर्पण' ने बंगाल के मानस को झकझोर दिया। माइकेल मधुसूदन दत्त ने उसका अंग्रेज़ी अनुवाद प्रकाशित किया जिसके खिलाफ़ अदालत ने एक हजार रुपये के जुर्माने की सज़ा सुनायी। माइकेल ने 1860 में *मेघनाद-वध* की रचना करके नयी बंगाली कविता की सम्भावनाओं का उद्घोष

किया। 1865 में बंकिम चंद्र चटर्जी का सूर्य उनके पहले ऐतिहासिक उपन्यास *दुर्गेशनांदिनी* के साथ बंगाली सांस्कृतिक क्षितिज पर उगा। 1873 में *विषवृक्ष* के जरिये उन्होंने सामाजिक उपन्यासों की परम्परा का सूत्रपात किया। 1879 में 'साम्य' शीर्षक से निबंध लिख कर बंकिम ने समतामूलकता और यूटोपियन समाजवाद के प्रति रुझान दिखाया, पर 1882 में *आनंदमठ* लिख कर वे देशभक्तिपूर्ण पुनरुत्थानवाद की लहर में बह गये। इसी रचना में दर्ज 'वंदेमातरम' गीत भारत के तीन राष्ट्रगीतों में से एक है। साहित्यिक उन्मेष के साथ-साथ बंगाली नवजागरण ने इतिहास लेखन (राजेंद्रलाल मित्र) और समाज-विज्ञान (बंगाल सोशल साइंस एसोसिएशन) के अन्य क्षेत्रों में योगदान की परम्परा का सूत्रपात भी किया। धार्मिक सुधारों और पुनरुत्थानवाद के लिहाज से भी यह दौर खासा घटनाप्रद था। एक तरफ तो केशव चंद्र सेन के नेतृत्व में युवा ब्रह्म समाजी सुधार आंदोलन की अलख जगाये हुए थे, दूसरी तरफ वहाबी असंतोष खदबदा रहा था और नव-हिंदूवाद की पदचाप सुनायी दे रही थी। इसी अवधि में दक्षिणेश्वर के संत रामकृष्ण परमहंस ने अपने चुम्बकीय व्यक्तित्व के माध्यम से सभी धार्मिक आस्थाओं को पवित्र घोषित किया। ईसाई धर्मांतरण को हवा देने वाला प्रोटेस्टेंट उग्रवाद इससे कमजोर हुआ और परम्परा के पैरोकारों को थोड़ी राहत मिली। परमहंस के युवा शिष्य स्वामी विवेकानंद ने 1893 में वर्ल्ड रिलीजस कांग्रेस में दिये गये अपने भाषण से अंतर्राष्ट्रीय ख्याति अर्जित की और अपनी खास शैली के आदर्शवादी राष्ट्रवाद का सूत्रीकरण किया। चार साल तक पश्चिम का दौरा करके लौटे तो 1897 में उनका राष्ट्रीय नायक की तरह स्वागत किया गया।

1861 के बाद की अवधि तो कुछ इस तरह की थी जिसमें बंगाली बुद्धिजीवी समाज का सबसे प्रिय शब्द 'राष्ट्रीय' बन गया। राजनारायण बोस, नवगोपाल मित्र, ज्योतिरिंद्रनाथ ठाकुर और भूदेव मुखर्जी की अगुआई में कई तरह की गतिविधियाँ चलीं जिनमें हिंदू मेले का आयोजन उल्लेखनीय था जो करीब दस साल तक कोलकाता को आलोकित करता रहा। 1870 के बाद की अवधि राजनीतिक आंदोलनों की अवधि थी जिसमें सुरेंद्रनाथ बनर्जी का नेतृत्व उभरा जिन्हें 'बंगाल के बेताज के बादशाह' के तौर पर जाना गया। सुरेंद्रनाथ के जुझारूपन कारण के कारण अंग्रेज उनका नाम बिगाड़ कर 'सरेंडर नॉट' बनर्जी भी कहते थे। 1876 में बनर्जी ने 'इण्डियन एसोसिएशन' की स्थापना की जिसके 1883 के राष्ट्रीय सम्मेलन में सभी भारतीयों के लिए एक राष्ट्रीय संगठन बनाने का विचार पैदा हुआ। इसका परिणाम 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की ऐतिहासिक स्थापना के रूप में निकला। बंगाली बुद्धिजीवियों कांग्रेस की गतिविधियों में जम कर भागीदारी की और 1903 तक कांग्रेस अधिवेशनों

की अध्यक्षता सात बार उनके खाते में गयी। बंगाल ने महाराष्ट्र और पंजाब के साथ मिल कर कांग्रेस के गरमदली धड़े की रचना करने में निर्णायक भूमिका निभायी।

बंगाल के नवजागरण के आखिरी दौर पर गिरीश चंद्र घोष जैसे नाट्यकार, बंकिम की परम्परा में रमेश चंद्र दत्त जैसे ऐतिहासिक और सामाजिक उपन्यासकार (जिन्हें हम महान आर्थिक इतिहासकार के तौर पर भी जानते हैं), मीर मुशर्रफ़ हुसैन जैसे मुसलमान कवि, जगदीश चंद्र बोस और प्रफुल्ल चंद्र राय जैसे वैज्ञानिकों की छाप रही। लेकिन, रवींद्रनाथ ठाकुर के जीनियस के सामने ये सभी प्रतिभाएँ फीकी पड़ गयीं। हिंदू मेले में अपनी देशभक्तिपूर्ण कविताओं के पाठ से सभी का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने वाले रवींद्रनाथ ने अपने रचनात्मक और वैचारिक साहित्य से एक पूरे युग को नयी अस्मिता प्रदान की। उन्होंने अपने युग पर आलोचनात्मक दृष्टि फेंकी। 1901 में अपनी रचना *नष्टनीड़* के जरिये वे बंगाली रिनैसाँ के ऐसे पैरोकारों को आड़े हाथों लेते नज़र आये जो अपने पारिवारिक जीवन में उन आदर्शों को लागू करने के लिए तैयार नहीं थे। 1913 में *गीतांजलि* के लिए साहित्य का नोबेल पुरस्कार जीतने वाले रवींद्रनाथ ने बंग-भंग विरोध और स्वदेशी आंदोलन की राजनीति को सर्वथा नये दृष्टिकोण से देखा। उन्होंने इस आंदोलन में मुसलमानों की न के बराबर भागीदारी पर अफ़सोस जताया और राष्ट्रवाद में निहित अशुभ आयामों की आलोचना प्रस्तुत की। गाँधी के साथ उनकी बहसों में आने वाले भारत की दुविधाओं की झलक देखी जा सकती थी।

देखें : अरविंद घोष, उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन-1, 2 और 3, गवर्धन राम त्रिपाठी और गुजराती अस्मिता, फ़कीर मोहन सेनापति और ओडिया अस्मिता, भारतीय आधुनिकता, भारतीय नवजागरण : तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य, महाराष्ट्र में सुधारणा-1 से 5 तक, मोहनदास कर्मचंद गाँधी-1 से 3 तक, राम मोहन राय, युरोपीय पुनर्जागरण, रवींद्रनाथ ठाकुर, बंकिम चंद्र चटर्जी, विवेकानंद।

संदर्भ

1. सुशोभन सरकार (1981), 'नोट्स ऑन द बंगाल रिनैसाँ', *बंगाल रिनैसाँ ऐंड अदर एसेज़*, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.
2. शिवनाथ शास्त्री (2002), *अ हिस्ट्री ऑफ़ द रिनैसाँ इन बंगाल*, रिनैसाँ, कोलकाता.
3. सुमित सरकार (1996), 'कोलकाता ऐंड द बंगाल रिनैसाँ', संकलित : *कैलकटा, द लिविंग सिटी*, संपादक : सुकांत चौधरी, खण्ड-1.
4. नीतिश सेनगुप्ता (1980), *हिस्ट्री ऑफ़ बंगाली स्पीकिंग पीपुल*, यूबीएस पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर्स.

—अभय कुमार दुबे

बंकिम चंद्र चट्टोपाध्याय

(Bankim Chandra Chattopadhyaya)

बांग्ला के प्रसिद्ध उपन्यासकार, कवि, पत्रकार और चिंतक बंकिम चंद्र चट्टोपाध्याय (1838-1894) को भारतीय राष्ट्रवाद के प्रमुख निर्माताओं में से एक माना जाता है। उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन को प्रेरित करने वाले राष्ट्र-गीत *वंदे मातरम्* की रचना करने वाले बंकिम ने 13 उपन्यासों और कई गम्भीर और आलोचनात्मक कृतियों का लेखन किया। बांग्ला गद्य को उसके शैशवकाल से निकाल कर परिपक्व ऊँचाइयों तक पहुँचाने वाले बंकिम एक बेहतरीन व्यंग्यकार भी थे। भारतीय संस्कृति और दर्शन, युरोपियन साहित्य, समाजशास्त्र और राजनीतिक अर्थशास्त्र के गहन अध्ययन की रोशनी में बंकिम ने भारत की धार्मिक परम्पराओं की तीखी आलोचना प्रस्तुत की, और भारत की दासता के कारणों को रेखांकित करने का प्रयास किया। इस प्रक्रिया में वे भारतीय राष्ट्रवाद का सैद्धांतिक सूत्रीकरण करने के मुकाम तक पहुँचे। भारत की गुलामी के कारणों बंकिम ने शारीरिक शक्ति के अभाव में न देख कर सांस्कृतिक संदर्भों में देखा। उन्होंने कहा कि भारतीय संस्कृति भारतवासियों को युरोपियनों की तरह प्रगतिकांक्षी नहीं बनाती, और इस प्रक्रिया में सत्ता की अवधारणा के साथ हिंदुओं के संबंध वैसे नहीं रह जाते जैसे युरोपियनों के हैं। बंकिम ने सांख्य दर्शन पर लिखे एक लम्बे निबंध में कहा कि चाहे हिंदू परम्परा हो या बौद्ध, दोनों के मर्म में सांख्य दर्शन है जो पारलौकिकता और भाग्यवाद की पैरोकारी करता है। पश्चिमी सभ्यता ज्ञान को सत्ता और शक्ति के रूप में देखती है, जबकि हिंदू सभ्यता ज्ञान को मोक्ष की तरह परिभाषित करती है। बंकिम ने निष्कर्ष निकाला, 'इसीलिए पश्चिमवासियों के हाथ सत्ता लगी, और हमारे हाथ मोक्ष।'

पार्थ चटर्जी ने बंकिम की विमर्शी रचनाओं का विश्लेषण करके बताया है कि उनकी तर्क-शृंखला को चार भागों में बाँट कर देखा जा सकता है : पहला, शक्ति या सत्ता राज्य का आधार है; किसी भी राष्ट्र की स्वतंत्रता या परतंत्रता अंतिम विश्लेषण में सत्ता का प्रश्न है; तीसरे, सत्ता के प्रश्न का निर्णय किसी भौतिक परिस्थिति के सापेक्ष नहीं किया जा सकता; चौथे, शक्ति या सत्ता समुचित राष्ट्रीय और सांस्कृतिक मूल्यों को विकसित करके उपलब्ध की जा सकती है।

बंकिम चंद्र चट्टोपाध्याय का जन्म उत्तरी चौबीस परगना के कंतालपारा में एक रूढ़िवादी ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम जादवचंद्र चट्टोपाध्याय और माता का नाम दुर्गाबाई था। पिता सरकारी अधिकारी थे और वे मिदनापुर के डिप्टी-कलक्टर पद तक पहुँचे। बंकिम कुल तीन भाई थे। इनके एक भाई संजीव चंद्र चट्टोपाध्याय भी उपन्यासकार थे और उन्हें उनकी प्रसिद्ध रचना *पलामू* के लिए जाना जाता है। बंकिम कोलकाता विश्वविद्यालय के शुरुआती दो स्नातकों में से एक थे। 1869 में बंकिम ने कानून की डिग्री हासिल की और 1858 से ब्रिटिश प्रशासन की नौकरी करने लगे। अपने पिता की तरह उन्हें भी जेसोर में डिप्टी-कलक्टर बनाया गया। 1891 में रिटायर होने के पहले तक उन्होंने ब्रिटिश सरकार में उप-मजिस्ट्रेट के रूप में भी काम किया। एक प्रशासक के रूप में उनके कार्यकाल के दौरान कई ऐसे मौके आये जब उनका ब्रिटिश शासकों से टकराव हुआ। इसके बावजूद इनकी छवि एक कर्तव्यनिष्ठ अधिकारी की बनी रही। इसी कारण 1894 में उन्हें 'कम्पेनियन, आर्डर ऑफ़ द इण्डियन एम्पायर' के सम्मान से नवाजा गया।

बंगाल ही नहीं पूरे भारत में साहित्यिक पुनर्जागरण लाने में बंकिम चंद्र ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। उन से पहले भारतीय साहित्य में पद्य का वर्चस्व था, लेकिन उनके उपन्यासों निबंधों और टीकाओं ने भारतीय साहित्य में नये दौर का सूत्रपात किया। 1906 में जब बिपिन चंद्र पाल ने एक देशभक्त जर्नल निकालने का फ़ैसला किया तो उन्होंने बंकिम के 'वंदे मातरम्' गीत से प्रभावित होकर इस पत्रिका का नाम 'वंदे मातरम्' रखा। बाद में लाला लाजपत राय ने भी इसी नाम से जर्नल का प्रकाशन किया।



बंकिम चंद्र चट्टोपाध्याय (1838-1894)

साहित्यिक जीवन में बंकिम ने अपने समय के बंगाल के प्रसिद्ध साहित्यकार ईश्वरचंद्र गुप्त के मॉडल का अनुकरण किया और पद्य लेखन करते हुए अपने साहित्यिक जीवन की शुरुआत की। लेकिन जल्दी ही वे साहित्य की दूसरी विधाओं की ओर आकर्षित हुए और उन्होंने कथा-लेखन करना शुरू कर दिया। उनकी पहली कहानी *राजमोहंस वाइफ़*

अंग्रेज़ी में प्रकाशित हुई। 1856 में उनका उपन्यास *दुर्गेशनंदिनी* प्रकाशित हुआ जो बांग्ला में लिखा गया पहला उपन्यास भी था। बंकिम की पहली बड़ी रचना *कपालकुंडला* (1866) थी। अपने इस प्रसिद्ध उपन्यास में उन्होंने दरियापुर के कोंटाई परगना को पृष्ठभूमि के रूप में इस्तेमाल किया। कई आलोचक मानते हैं कि इस उपन्यास की उनकी नायिका

कालिदास की शंकुतला और शेक्सपीयर की मिरांडा से आंशिक रूप से मिलती-जुलती है। बहरहाल, इस आधार पर बंकिम के चरित्र की मौलिकता को खारिज नहीं किया जा सकता है क्योंकि इस चरित्र की अपनी विशिष्टताएँ हैं। बंकिम चंद्र के उपरोक्त दोनों ही कृतियाँ रोमांटिक उपन्यास थीं। अपने अगले उपन्यास *मृणालिनी* (1869) में उन्होंने पहली बार कहानी को व्यापक ऐतिहासिक संदर्भ में रखने की कोशिश की। दरअसल, इस उपन्यास बंकिम के लेखन में बदलाव की प्रक्रिया का संकेत मिलता है। अब तक बंकिम ने मुख्य तौर पर रोमांटिक कथानक पर ही ध्यान दिया था। लेकिन इसके बाद उन्होंने ज़्यादा बौद्धिक मुद्दों पर विचार करके बंगाली लोगों के बीच में एक तरह की वैचारिक बहस और साहित्यिक पुनर्जागरण लाने की कोशिश की। कुछ हद तक इस प्रक्रिया की शुरुआत इसी उपन्यास से हो गयी थी। अप्रैल, 1872 में उन्होंने एक मासिक साहित्यिक पत्रिका *बंगदर्शन* का प्रकाशन शुरू किया। इसके पहले अंक में सिर्फ उनकी रचनाएँ ही प्रकाशित हुईं। लेकिन बाद में इसमें बहुत से धारावाहिक उपन्यास, कहानियाँ, रोचक संस्मरण, ऐतिहासिक और विविधता से भरे निबंध, सूचनाप्रद लेख और धार्मिक विमर्श, साहित्यिक आलाचनाएँ और समीक्षाएँ प्रकाशित होने लगीं। बंकिम का उपन्यास *विष्वक्ष* (1873) *बंगदर्शन* में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुआ। चार साल बाद इस पत्रिका का प्रकाशन बंद हो गया। बाद में भाई संजीव ने इसे फिर से प्रकाशित करना शुरू किया। 1877 में बंकिम के दो उपन्यासों *चंद्रशेखर* और *रजनी* का प्रकाशन हुआ। रजनी एक अंधी लड़की का आत्मकथात्मक उपन्यास था। 1878 में बंकिम का उपन्यास *कृष्णाकांतेर विल* का प्रकाशन हुआ। इसमें बंकिम ने समकालीन भारत की जीवन-शैली और भ्रष्टाचार की जीवंत तस्वीर पेश की है। 1881 में बंकिम का एक अन्य ऐतिहासिक उपन्यास *राजसिंहा* का प्रकाशन हुआ।

बंकिम चंद्र के सबसे प्रसिद्ध उपन्यास *आनंदमठ* का प्रकाशन 1882 में हुआ। यह एक राजनीतिक उपन्यास था जिसमें यह दिखाया गया कि किस तरह हिंदू संन्यासियों की सेना मुर्शिदाबाद के मुसलमान नवाब के सैनिकों से संघर्ष करती है। मोटे तौर पर यह उपन्यास अठारहवीं सदी में हुए संन्यासी विद्रोह पर आधारित था। वास्तविक बगावत में हिंदू संन्यासियों और मुसलमान फ़क्रियों ने मिलकर ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी के खिलाफ़ विद्रोह किया था। इस किताब में बंगाल के तुर्क-अफ़ग़ान मुसलमान शासन को ख़त्म करने के लिए हिंदू राष्ट्रवाद के उभार का आह्वान किया गया है। इसमें यह तर्क भी दिया गया कि जब तक हिंदू स्वशासन के लिए उपयुक्त नहीं हो जाते, तब तक अंग्रेजों के शासन को वैकल्पिक व्यवस्था के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

इसी उपन्यास में उनका प्रसिद्ध 'वंदे मातरम्' गीत शामिल था। बाद में रवींद्रनाथ ठाकुर ने इसका संगीत तैयार किया। आज़ादी के संघर्ष के दौरान 'वंदे मातरम्' गीत और नारा बहुत ही प्रसिद्ध हुआ। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद इसे राष्ट्र-गीत के रूप में स्वीकार किया गया।

इन उपन्यासों के अलावा *देवी चौधरानी* (1944) और सीताराम (1966) बंकिम के दो अन्य उपन्यास थे। उपन्यासों के अलावा बंकिम की हास्य-व्यंग्य की रचनाएँ भी बहुत प्रसिद्ध हुईं। इस तरह की इनकी कृति कमलकांतेर दाप्तर (1875) बहुत प्रसिद्ध हुई। बंकिम चंद्र ने गीता पर टीका भी लिखी जो उनकी मृत्यु के आठ वर्ष बाद प्रकाशित हुई। उन्होंने गीता के अध्याय 4 के 19 श्लोक तक अपनी टिप्पणियाँ दर्ज की हैं।

बंकिम के राष्ट्रवादी विचारों की तीखी आलोचना भी हुई है। आलोचकों का कहना है कि वे पौरुष पर आधारित राष्ट्रवाद का समर्थन करते थे। उनकी समझ थी कि हिंदू खुद को सशस्त्र करके ही अपने दुश्मनों से अपनी मातृभूमि को आज़ाद कर सकते हैं। उनके इन विचारों ने औपनिवेशिक दौर में राष्ट्रवाद को बढ़ावा देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। लेकिन बाद में गाँधी ने पौरुष और हिंसा पर आधारित राष्ट्रवाद की आलोचना की और रवींद्रनाथ ने हर तरह के राष्ट्रवाद को मानवता के लिए ख़तरनाक मानते हुए नकारा। आम तौर पर आरोप लगाया जाता है कि बंकिम का राष्ट्रवाद हिंदू राष्ट्रवाद था, और उसमें मुसलमानों के लिए कोई जगह नहीं थी। दरअसल, वह मुसलमानों के खिलाफ़ था। इस आरोप पर स्वयं बंकिम का कहना यह था कि उनके उपन्यासों के आधार पर उनके विचारों के बारे में फ़ैसला नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि वे काल्पनिक स्थितियों और उनके इर्द-गिर्द बुने गये पात्रों पर निर्भर होते हैं। बजाय इसके उनके निबंध पढ़े जाने चाहिए। बंकिम का कहना था कि उनका राष्ट्रवाद बहिर्वेशनकारी न हो कर समावेशी है। एक निबंध में उन्होंने कहा भी है, 'भारत तब तक एक राष्ट्र के रूप में विकसित नहीं हो सकता जब तक हाशिम शेखों और राम कैबर्तो की स्थितियों में समान और साथ-साथ सुधार नहीं होता।'

देखें : ईश्वर चंद्र विद्यासागर, क्राजी नज़रुल इस्लाम, कुमारन् आशान्, गजानन माधव मुक्तिबोध, गोवर्धन राम त्रिपाठी, प्रेमचंद, फ़क्रौर मोहन सेनापति, भारतेंदु हरिश्चंद्र, महादेव गोविंद रानाडे, महावीर प्रसाद द्विवेदी, रवींद्रनाथ ठाकुर, रामविलास शर्मा, रामचंद्र शुक्ल, वल्लतोल नारायण मेनन, सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन अज्ञेय, सुब्रह्मण्य भारती, हजारी प्रसाद द्विवेदी।

संदर्भ

1. तनिका सरकार (1994), 'इमेजनिंग अ हिंदू नेशन : हिंदू ऐंड

- मुसलिम इन बंकिमचंद्राज लेटर राइटिंग', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड 29, अंक 39.
2. पार्थ चटर्जी (1986), 'ट्रांसफरिंग ए पॉलिटिकल थियरी : अर्ली नैशनलिस्ट थॉट इन इण्डिया', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड 21, अंक 3.
 3. शिशिर कुमार दास (1984), 'द आर्टिस्ट इन चेंस : द लाइफ ऑफ बंकिम चंद्र चटर्जी', *न्यू स्टेट्समेन*, नयी दिल्ली.
 4. बोस, सुनील कुमार बोस (1974), *बंकिम चंद्र चटर्जी*, मिनिस्ट्री ऑफ इंफॉर्मेशन ऐंड ब्रॉडकास्टिंग, गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया, नयी दिल्ली.

— कमल नयन चौबे

बांग्लादेश मुक्ति-संघर्ष

(Liberation Struggle for Bangladesh)

बांग्लादेश मुक्ति संघर्ष द्वितीय विश्व युद्ध के बाद हुई दुनिया की सबसे महत्वपूर्ण घटनाओं में से एक है। इसके गर्भ से एक नये राष्ट्र-राज्य का उदय हुआ। इस संघर्ष में पूर्वी पाकिस्तान के आम लोगों ने पश्चिमी पाकिस्तान की सेना के दमन का प्रतिरोध किया और धर्म के आधार पर राष्ट्र-राज्य के निर्माण के सिद्धांत के खोखलेपन को उजागर कर दिया। इस मुक्ति-संघर्ष ने रेखांकित किया कि यदि किसी राष्ट्र-राज्य के बहुसंख्यक वहाँ के अल्पसंख्यकों के साथ सम्मान और बराबरी का बरताव नहीं करते, तो यह उस राष्ट्र-राज्य के अस्तित्व के लिए घातक हो सकता है। बांग्लादेश मुक्ति-संग्राम ने इस बात का सबूत भी दिया कि जिस 'दो राष्ट्र सिद्धांत' के आधार पर भारत का बँटवारा करके पाकिस्तान का निर्माण किया गया था, वह बेबुनियाद था।

1947 में भारतीय उपमहाद्वीप के विभाजन के बाद बना पाकिस्तान दो बड़े क्षेत्रों में बँटा हुआ था— पूर्वी पाकिस्तान और पश्चिमी पाकिस्तान। पूर्वी पाकिस्तान में बंगालियों का बहुमत था। पाकिस्तान के निर्माण के बाद बनी स्थितियों में पूर्वी पाकिस्तान के लोगों ने महसूस किया कि जैसे वे पश्चिमी पाकिस्तान के उपनिवेश बन गये हों। उन्हें प्रशासन में भेदभाव का सामना करना पड़ता था। 1968 तक कोई भी बंगाली अफसर सचिव के पद पर नहीं पहुँचा था, और न ही कोई बंगाली-भाषी व्यक्ति पाकिस्तान के सेंट्रल बैंक का गवर्नर या वित्त मंत्री बन पाया था। हालाँकि तत्कालीन पाकिस्तान की कुल 56 प्रतिशत आबादी बंगालियों की थी, लेकिन विदेश सेवा में पूर्वी पाकिस्तान से केवल 20.8 प्रतिशत लोग ही थे। इसी तरह से, सेना में इनका कुल

अनुपात 1:25 था और अफसरों में यही अनुपात 1:90 था। शिक्षा के क्षेत्र में भी पूर्व के लोगों को भेदभाव का सामना करना पड़ता था। मसलन, 1947 से 1969 के बीच पश्चिमी पाकिस्तान में प्राथमिक, सेकेण्डरी, कॉलेज और विश्वविद्यालय की संवृद्धि दर क्रमशः 369 प्रतिशत, 176 प्रतिशत, 675 प्रतिशत और 425 प्रतिशत थी। लेकिन पूर्वी पाकिस्तान की जनसंख्या में लगातार बढ़ोतरी होने के बावजूद यहाँ प्राथमिक स्कूलों में 4.6 प्रतिशत, सेकेण्डरी स्कूल में 11.4 प्रतिशत, कॉलेजों में 320 प्रतिशत और विश्वविद्यालय में 300 प्रतिशत की ही संवृद्धि हुई।

जीवन के दूसरे क्षेत्रों में भी पूर्वी पाकिस्तान के लोगों की स्थिति बहुत ही दयनीय थी। शुरुआत से ही पाकिस्तान की केंद्रीय सरकार ने पूर्वी पाकिस्तान की जनता के साथ राजनीतिक, सांस्कृतिक और सामाजिक भेदभाव तथा दमन की नीति अपना रखी थी। रोजमर्रा की जिंदगी में बंगाली लोगों की गिरफ्तारी और उत्पीड़न एक सामान्य घटना थी। सामाजिक रूप से भी पाकिस्तान में बंगालियों को उपेक्षा की नज़र से देखा जाता था। माना जाता था कि वे सच्चे मुसलमान नहीं हैं या हिंदुओं से प्रभावित मुसलमान हैं। किसी भी तरह के विरोध को भारतीय षड़यंत्र या इस्लाम के लिए खतरे की संज्ञा दे दी जाती थी। इसके अलावा पूर्वी पाकिस्तान के बहुसंख्यक लोगों की भाषा बांग्ला को खारिज कर उर्दू और अंग्रेज़ी थोपने की कोशिश भी की गयी। कुल मिला कर पश्चिम की निगाह में पूर्व के लोगों की संस्कृति को हिंदू संस्कृति का दर्जा दे दिया गया था। इसी कारण से पूर्वी पाकिस्तान में उर्दू थोपने के खिलाफ 1948 में ही आंदोलन शुरू हो चुका था।

इन सब कारकों के चलते ही 1954 के चुनावों में मुसलिम लीग पूर्वी पाकिस्तान में हार गयी और कई राजनीतिक दलों के संयुक्त मोर्चे की सरकार बनी। इसके बाद ही बांग्ला को यहाँ की राष्ट्रीय भाषा के रूप में मान्यता मिल सकी। इस हार के बाद मुसलिम लीग कभी भी इस क्षेत्र में लोकप्रियता हासिल नहीं कर पायी। यह बात भी याद रखने की ज़रूरत है कि मुसलिम लीग के धर्म आधारित राष्ट्रवाद के विपरीत पूर्वी पाकिस्तान के दूसरे राजनीतिक दलों ने जिस राष्ट्रवाद की तरफ़दारी की उसमें भाषा और बंगाली संस्कृति को प्रमुख स्थान दिया गया।

पाकिस्तान में 1958 में जनरल अयूब ख़ान के नेतृत्व में सेना ने लोकतांत्रिक रूप से चुनी हुई सरकार का तख़्ता पलट दिया। 1962 में अयूब ख़ान ने एक नया संविधान लागू किया। इसमें फ़ौजी शासक के हाथों में शक्ति का केंद्रीकरण कर दिया गया। इसके खिलाफ़ पूरे पाकिस्तान के छात्रों ने विरोध आंदोलन किया। ख़ासतौर पर पूर्वी पाकिस्तान के छात्रों



विजेता मुक्ति वाहिनी

ने इसमें बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया। पूर्वी पाकिस्तान में जनरल अयूब द्वारा गठित शिक्षा आयोग की सिफारिशों के खिलाफ भी आंदोलन शुरू हुआ। एस.एम. शरीफ के नेतृत्व में गठित इस आयोग की सिफारिशों के कारण आम और गरीब लोगों के लिए शिक्षा के मौके काफी कम हो जाने के अंदेश थे। लगातार हुए विरोध के कारण इस आयोग की सिफारिशें लागू नहीं की गयीं। कुल मिला कर पूर्वी पाकिस्तान में किसी-न-किसी रूप में पश्चिम स्थित पाकिस्तान की केंद्रीय सरकार का विरोध और आंदोलन जारी रहा। समय बीतने के साथ वह ज्यादा-से-ज्यादा राजनीतिक रुख अख्तियार करता गया।

1966 में पूर्वी पाकिस्तान की प्रमुख पार्टी अवामी लीग के नेता शेख मुजीबुर्रहमान ने एक छह सूत्रीय माँग-पत्र सामने रखा। इसमें पूर्वी पाकिस्तान को ज्यादा स्वायत्तता देने की माँग की गयी थी। इस माँग से पूर्वी पाकिस्तान में चल रहे राजनीतिक आंदोलनों को बहुत उछाल मिला। इन्हीं आंदोलनों को दबाने के लिए अयूब खान ने 1968 में शेख मुजीबुर्रहमान को अगस्तला षडयंत्र केस में गिरफ्तार कर लिया। मुजीब पर आरोप यह था कि उन्होंने भारतीय राज्य त्रिपुरा की राजधानी अगस्तला में भारतीय अधिकारियों के साथ गुप्त बैठकें की हैं और पाकिस्तान को तोड़ने का षडयंत्र रचा है। स्पष्ट था कि इस केस के बहाने पाकिस्तान की केंद्रीय सरकार बंगालियों की भावनाओं और राजनीतिक आकांक्षाओं का दमन करना चाहती है। मुजीब की गिरफ्तारी के खिलाफ जबरदस्त आंदोलन छिड़ गया। मजबूर होकर अयूब खान को 1969 में अगस्तला षडयंत्र केस वापस लेकर उन्हें जेल से रिहा करना पड़ा। दरअसल, यह एक फ़ौजी शासक द्वारा जनता के विद्रोह के सामने झुकने की तरह था। इसने पूर्वी पाकिस्तान के आंदोलनकारियों के हौसले काफ़ी बुलंद कर दिये। अब उन्हें यह लगने लगा कि वे पाकिस्तान के सैनिक शासकों को अपनी माँगें मानने पर मजबूर कर सकते हैं।

लेकिन मुजीब को रिहा करने के बावजूद अयूब खान ने पूर्वी पाकिस्तान को स्वायत्तता देने के बारे में उनकी माँग नहीं मानी। 1969 में ही जनरल याहिया खान पाकिस्तान के राष्ट्रपति बने। उन्होंने यह घोषणा की कि वे जल्दी ही लोकतांत्रिक तरीके से चुनी हुई सरकार को सत्ता स्थानांतरित कर देंगे। पाकिस्तान में मार्च, 1970 के शुरुआत में चुनाव हुए। पूर्वी हिस्से में अवामी लीग को भारी जीत मिली। यहाँ की कुल तीन सौ प्रांतीय सीटों में से दो सौ उसने जीत लीं। पूर्वी पाकिस्तान में संसद के लिए 162 सीटें थीं, जिनमें से 160 सीटों पर अवामी लीग को जीत हासिल हुई। पश्चिमी पाकिस्तान में जुल्फ़िकार अली भुट्टो के नेतृत्व वाली पाकिस्तान पीपुल्स पार्टी को अच्छी सफलता मिली। चूँकि अवामी लीग सबसे बड़े दल के रूप में उभरी थी, इसलिए उसे सरकार बनाने का मौक़ा दिया जाना चाहिए था। लेकिन पश्चिमी प्रांत के अभिजन मानसिक रूप से इस बात के लिए तैयार नहीं थे कि पूर्वी पाकिस्तान का कोई नेता देश की कमान सँभाले। इसलिए भुट्टो और जनरल याहिया खान के बीच मुजीब को सत्ता न सौंपने के बारे में अघोषित सहमति बन गयी। जब नियत समय पर अवामी लीग को सत्ता नहीं सौंपी गयी, तो उसने पूर्वी पाकिस्तान में असहयोग आंदोलन शुरू कर दिया।

भारत विभाजन के बाद पाकिस्तान में इतने बड़े पैमाने पर असहयोग आंदोलन कभी नहीं हुआ था। इसने पाकिस्तान की केंद्रीय सरकार को बिल्कुल ही अप्रभावी बना दिया। सात मार्च को मुजीब ने ढाका में एक रैली को सम्बोधित करते हुए कहा कि अब आजादी के लिए संघर्ष करने का समय आ गया है। आंदोलन को निष्प्रभावी बनाने के लिए भुट्टो और याहिया ने बातचीत का दिखावा किया। लेकिन इसके साथ ही पाकिस्तानी सरकार ने पूर्वी पाकिस्तान में सैनिक टुकड़ियाँ भी भेजनी शुरू कर दीं। 25 मार्च के आस-पास पाकिस्तानी सेना ने पूर्वी पाकिस्तान लोगों के खिलाफ ऑपरेशन सर्च लाइट की शुरुआत की। इसमें पूर्वी पाकिस्तान के निहत्थे लोगों को निशाना बनाया गया। हजारों लोग मारे गये। मुजीब को गिरफ्तार करके पश्चिमी पाकिस्तान ले जाया गया। इसके बाद अवामी लीग ने खुल कर अंतर्राष्ट्रीय मदद की अपील की। दूसरी ओर सेना और सरकारी महकमों में काम करने वाले बांग्लाभाषियों ने अपनी नौकरियाँ छोड़ दीं। आम लोगों ने इस विरोध में अपने-अपने तरीके से भागीदारी की। लेकिन फिर भी अप्रैल के पहले हफ़्ते तक पाकिस्तानी सेना ने स्थिति को अपने क़ाबू में कर लिया।

पाकिस्तानी सेना के दमन के कारण तक्ररीबन एक करोड़ लोगों को भारत में शरण लेनी पड़ी। अवामी लीग के

अधिकांश बड़े नेता भी भारत आ गये। भारत ने शरणार्थियों की हर तरह से मदद की। अवामी लीग के नेताओं ने खुद को भारत में संगठित किया। उन्होंने पार्टी के महासचिव ताजुद्दीन अहमद के हाथों में नेतृत्व सौंप दिया। 10 अप्रैल, 1971 को अवामी लीग के नेताओं ने बांग्लादेश की आजादी की घोषणा कर दी। 17 अप्रैल को पीपुल्स रिपब्लिक ऑफ बांग्लादेश की सरकार गठित की गयी। यह सरकार बांग्लादेश के खुशटिया जिले के मेहरपुर में बैद्यनाथटाला में गठित की गयी। शेख मुजीब को इस गणतंत्र का राष्ट्रपति, सैयद नज़रूल इस्लाम को उपराष्ट्रपति और ताजुद्दीन अहमद को प्रधानमंत्री बनाया गया।

बांग्लादेश को पाकिस्तानी सेना के चंगुल से मुक्त कराने के लिए मुक्ति वाहिनी का गठन किया गया। इसमें दो तरह के लोग थे— नियमित सेना और अनियमित सेना। नियमित सेना में वे लोग थे जो पहले पाकिस्तानी सेना के हिस्से थे और जिन्हें पर्याप्त सैन्य प्रशिक्षण मिला हुआ था। अनियमित सेना में ऐसे स्वतंत्रता सेनानी थे जिन्हें सैन्य प्रशिक्षण नहीं मिला था। इसमें नौकरी पेशा, किसान और मजदूर शामिल थे। पाकिस्तानी सेना ने पूरे देश में स्वतंत्रता सेनानियों को नियंत्रित करने के लिए एक शांति वाहिनी गठित की। इसके अलावा, पाकिस्तान सरकार ने बुद्धिजीवियों को सफ़ाया करने के लिए अल-बदर वाहिनी का भी गठन किया। इसमें जमाते-इस्लाम पार्टी और मुसलिम लीग के सदस्य शामिल हुए। इस वाहिनी द्वारा हजारों बुद्धिजीवियों की हत्या की गयी।

अगले नौ महीनों में पाकिस्तानी सेना और उसके सहयोगियों ने लाखों बंगाली लोगों की हत्या कर दी और लाखों महिलाओं के साथ बलात्कार किया। दरअसल, द्वितीय विश्व युद्ध के बाद दुनिया में कहीं भी इतने बड़े पैमाने पर जनसंहार नहीं हुआ था। लेकिन मुक्ति वाहिनी के सदस्यों ने भी पाकिस्तानी सेना का ज़बरदस्त प्रतिरोध किया। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर संयुक्त राज्य अमेरिका, चीन, सऊदी अरब और मध्य-पूर्व के देशों ने पाकिस्तान का समर्थन किया। दूसरी ओर भारत, सोवियत संघ और गुटनिरपेक्ष देशों ने बांग्लादेश का पक्ष लिया। भारत ने सिर्फ बांग्लादेश के लोगों और राजनीतिक नेताओं को शरण ही नहीं दी, बल्कि मुक्ति वाहिनी के सदस्यों को सैन्य प्रशिक्षण भी दिया। इसके अलावा उसने अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर बांग्लादेश के पक्ष में जनमत बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। इस संदर्भ में भारत की तत्कालीन प्रधानमंत्री इंदिरा गाँधी ने ज़बरदस्त भूमिका निभायी।

बांग्लादेश के घटनाक्रम की प्रतिक्रिया में पाकिस्तान ने अपनी पश्चिमी सीमा की ओर से 3 दिसम्बर, 1971 को भारत पर हमला कर दिया। दूसरी ओर पूर्वी पाकिस्तान की ओर मुक्ति वाहिनी और भारतीय सेनाओं ने मिल कर एक मित्र वाहिनी का गठन किया और पूर्वी पाकिस्तान वाले भाग में पाकिस्तानी सेना को ज़बरदस्त चुनौती दी। 16 दिसम्बर,

1971 को मित्र वाहिनी ने ढाका पर क़ब्ज़ा कर लिया। यही वह दिन था जब पाकिस्तान ईस्टर्न कमांड के जनरल नियाजी ने 93,000 पाकिस्तानी सैनिकों के साथ ईस्टर्न कमांड के भारतीय सेनापति लेफ़्टिनेंट जनरल जगजीत सिंह अरोड़ा के सामने आत्म-समर्पण कर दिया। इस तरह बांग्लादेश 16 दिसम्बर, 1971 को आजाद हुआ।

बांग्लादेश की आजादी का पाकिस्तान की राजनीति पर गहरा प्रभाव पड़ा। याहिया ख़ान को अपना पद छोड़ना पड़ा और सेना की विश्वसनीयता भी काफ़ी प्रभावित हुई। इस पूरी प्रक्रिया में भारत की सक्रिय भूमिका ने भी पाकिस्तानी अभिजनों के मन में भारत के प्रति गहरी नाराज़गी और दुश्मनी की भावना भर दी। इसका भविष्य के भारत-पाकिस्तान संबंधों पर भी प्रभाव पड़ा। बांग्लादेश की आजादी के कारण भारत के भीतर इंदिरा गाँधी की लोकप्रियता में ज़बरदस्त बढ़ोतरी हुई।

देखें : आजादी के लिए सशस्त्र संघर्ष-1, 2 और 3, उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन-1, 2 और 3, दक्षिण एशियायी सहयोग संगठन (सार्क), माओवाद : नेपाल का, बांग्लादेश मुक्ति-संघर्ष, म्याँमार में लोकतंत्र के लिए संघर्ष, श्रीलंका में तमिल पृथकतावाद।

संदर्भ

1. एच.एच. मुजीब (सम्पा.) (1982), *बांग्लादेश स्वाधीनता जुद्ध : डॉक्यूमेंट्स* (वॉर ऑफ इंडिपेंडेंस ऑफ बांग्लादेश डॉक्यूमेंट्स), खण्ड 3, गवर्नमेंट ऑफ द पीपुल्स रिपब्लिक ऑफ बांग्लादेश, ढाका.
2. बी. उमर (2006), *द इमरजेंस ऑफ बांग्लादेश*, खण्ड 2, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क.
3. शर्मिला बोस (2005), 'ऐनाटॉमी ऑफ वायलेंस : ऐनालिसिस ऑफ सिविल वॉर इन ईस्ट पाकिस्तान इन 1971', *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीक्ली*, खण्ड 40, अंक 41.

— कमल नयन चौबे

ब्लैक पैंथर्स

(Black Panthers)

बीसवीं सदी के छठें दशक के आखिरी वर्षों में अमेरिकी राजनीति में ब्लैक पैंथर्स का उभार हुआ। संयुक्त राज्य अमेरिका के नागरिक जीवन में हिंसा और मार्क्सवादी क्रांति की दावेदारियों के आधार पर की जाने वाली यह राजनीति अपने आप में अनूठी थी। इसके पीछे नागरिक अधिकार आंदोलन, ब्लैक पॉवर आंदोलन और तीसरी दुनिया की मुक्ति

के लिए चलाये जाने वाले संघर्षों की भूमिका थी। ब्लैक पैंथर पार्टी का गठन अक्टूबर, 1966 में ऑकलैण्ड, कैलिफोर्निया में हुआ। इस पार्टी से जुड़े काले एक्टिविस्टों का मानना था कि अमेरिकी समाज में सम्पत्ति आधारित विषमता बहुत ज्यादा है और साथ ही यहाँ नस्लवाद की बुनियाद भी काफी गहरी है। इन्हीं दोनों से निजात पाने के लिए उन्होंने अपना कार्यक्रम पेश किया, जिसमें इन्होंने मार्क्सवादी क्रांति की आवश्यकता पर बल दिया गया था। अपने दस सूत्रीय कार्यक्रमों के जरिये पैंथरों के नेता ह्यू न्यूटन ने (1942-89) ने काले समुदाय के लोगों के लिए पूर्ण रोजगार की माँग की। उन्होंने शिक्षा-सुधार करने और कालों की सुरक्षा के लिए सशस्त्र पुलिस बलों की तैनाती पर भी जोर दिया। कुल मिला कर उनकी माँग थी कि काले लोगों के लिए रोटी, ज़मीन, शांति और न्याय की गारंटी की जानी चाहिए। उल्लेखनीय है कि ब्लैक पैंथरों के रैडिकलिज़म से प्रेरित होकर दूसरे देशों में दमित समूहों ने कई संगठन बनाये। इसमें भारत में शुरू हुआ दलित पैंथर्स संगठन खास तौर पर उल्लेखनीय है। नामदेव ढसाल और दूसरे एक्टिविस्टों ने इसे 1972 में शुरू किया था। इन्होंने अपना नाम ब्लैक पैंथर्स से प्रेरित होकर ही रखा। इसके नेताओं ने यह घोषित किया कि वे ब्लैक पैंथर्स की तरह ही अपने अधिकारों के लिए जुझारू संघर्ष करने में विश्वास रखते हैं। इस आंदोलन ने दलित युवाओं की पूरी पीढ़ी को अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करने के लिए प्रेरित किया। ब्लैक पैंथर पार्टी बहुत कम समय तक अस्तित्व में रही। इसके बावजूद उसने न सिर्फ अमेरिका के काले लोगों को उनके अधिकारों के प्रति जागरूक किया, बल्कि दुनिया के दूसरे भागों के शोषित और दमित लोगों में भी संघर्ष की भावना भरी।

पैंथर्स के बारे में एक मान्यता यह भी रही है कि यह राजनीतिक चेतना रखने वाले 'स्ट्रीट गैंग' से ज्यादा कुछ नहीं था। लेकिन एक अनुसंधान के मुताबिक इसका गठन ईस्ट बे के समृद्ध सांस्कृतिक और बौद्धिक परिवेश में हुआ था। कॉलेजों और विश्वविद्यालयों में इसका व्यापक नेटवर्क था। असल में दूसरे विश्व-युद्ध के दौरान और इसके बाद के दौर में काले लोग बड़ी तादाद में कैलिफोर्निया में जाकर बस गये थे। वहाँ उन्हें राजकीय भेदभाव का सामना करना पड़ा। इससे युवकों में राज्य के प्रति पहले से मौजूद आक्रोश में बढ़ोतरी हुई। शिक्षा के लोकतंत्रीकरण के विश्वव्यापी विस्तार ने भी काले युवकों को प्रभावित किया। एक ओर इन्हें यह अहसास हुआ कि वे अपनी सुरक्षा के लिए सिर्फ सरकार पर निर्भर नहीं रह सकते, दूसरी ओर उन्हें शिक्षा की परिवर्तनकारी क्षमता का भी अहसास हुआ। ऑकलैण्ड में काले युवकों को राज्य के पब्लिक कैम्पस के नेटवर्क का भी फ़ायदा मिला। उत्तर-पश्चिमी ऑकलैण्ड में स्थित मेरिट कॉलेज में बहुत से

काले रैडिकल संगठनों का गठन हुआ। आगे चलकर इन्हीं संगठनों से ब्लैक पैंथर्स पार्टी सामने आयी। दरअसल, ब्लैक पैंथर्स से जुड़े काले युवा शिक्षा द्वारा अफ्रो-अमेरिकी लोगों की खराब हालत सुधारना चाहते थे। इन अफ्रो-अमेरिकी लोगों को लम्बे समय से राजनीतिक प्रक्रिया में भागीदारी से वंचित रखा गया था। उनके पास रहने लायक घर या जीविका के पर्याप्त साधन नहीं थे। कई मौकों पर इन्हें पुलिस की क्रूरता का भी सामना करना पड़ता था।

पैंथर्स द्वारा की गयी सशस्त्र पुलिस गश्त की माँग तथा सशस्त्र क्रांति की वकालत ने लोगों का ध्यान उनकी ओर खींचा। हिंसा की तरफ उनके झुकाव के कारण जल्दी ही सरकारी जाँच एजेंसियाँ उनके खिलाफ जाँच-पड़ताल में लग गयीं। हालाँकि यह माना जा रहा था कि पैंथर्स गरीब काले लोगों की भलाई के लिए जिन दूसरे तरह के कार्यक्रमों की वकालत कर रहे हैं वे राष्ट्रपति लिंडन जॉनसन द्वारा चलाये जा रहे 'गरीबी के खिलाफ युद्ध' कार्यक्रम से बहुत अलग नहीं हैं, लेकिन पैंथर्स क्रांतिकारी शब्दावली का प्रयोग करते थे इसलिए वे राज्य के निशाने पर आ गये। राज्य की एजेंसियों ने इस बात पर जोर दिया कि यह एक क्रांतिकारी प्रकृति का संगठन है और इसका जुड़ाव तीसरी दुनिया की क्रांतिकारी हिंसा से जुड़ाव है। संघीय जाँच ब्यूरो (एफबीआई) ने पैंथर्स के खिलाफ जबरदस्त अभियान छेड़ दिया। पहले उसके सदस्यों को हिंसा करने के लिए उकसाया गया और फिर इस आधार पर उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। सरकार के इस अभियान, अंदरूनी राजनीतिक मतभेद और नेतृत्व के संकट जैसे कारकों के चलते 1980 के दशक की शुरुआत में यह संगठन खत्म हो गया।

पैंथर्स की प्रकृति के बारे में विद्वानों में काफी वाद-विवाद रहा है। इससे हमदर्दी रखने वाले विद्वानों का यह मानना है कि पैंथर्स द्वारा क्रांतिकारी बदलाव के समर्थन को काले लोगों के लगातार दमन के संदर्भ में ही देखा जाना चाहिए। लेकिन बहुत से लोग यह भी मानते हैं कि मीडिया ने इस समूह को ज़रूरत से ज्यादा महत्त्व दिया। पैंथर्स के बारे में हाल के वर्षों में किये गये शोध के आधार पर तर्क दिया गया है कि पैंथर्स को सिर्फ नागरिक अधिकार मिलने में ही देरी के खिलाफ गुस्से से भरी प्रतिक्रिया के रूप में ही नहीं देखा जाना चाहिए। पैंथर्स से केवल असंतुष्ट शहरी लोग ही नहीं जुड़े थे। इस आंदोलन का विस्तार ग्रामीण क्षेत्रों में भी हुआ। यह स्थानीय, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय पहलुओं के बारे में जागरूक था। इसने काले राष्ट्रवाद के विचार को एक नया आयाम दिया।

आमतौर पर, ब्लैक पैंथर्स की छवि एक हिंसक और क्रांतिकारी संगठन की रही है। एक दलील यह भी है कि पैंथर्स अपने शुरुआती सालों अर्थात् 1966 से 1971 के बीच

ही सबसे ज्यादा रैडिकल थे। इस दौरान उन्होंने अमेरिका में हिंसक क्रांति का आह्वान किया। विद्वानों के मन में और लोक-संस्कृति में भी उनकी यही छवि गहरे रूप से बैठी हुई है। लेकिन सच्चाई यह है कि समय के साथ इसमें बदलाव आया। आगे चलकर यह एक ऐसे संगठन के रूप में बदला जिसने बुनियादी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक बदलाव के लिए सामुदायिक सेवा और यहाँ तक की चुनावी राजनीति को भी अपनाया।

पैंथर्स ने नागरिक अधिकार आंदोलन पर बहुत गहरा प्रभाव डाला। इसने खुद को प्रतिरोध के आंदोलन के रूप में संगठित किया और स्थानीय लोगों के बीच काम किया। इसने काले लोगों को राज्य की मनमानी के खिलाफ जागरूक किया और उन्हें अपने अधिकारों के लिए लड़ने के लिए भी प्रेरित किया। इनके रैडिकल रुख ने कई बार नैशनल एसोसिएशन फॉर द एडवांसमेंट ऑफ कलर्ड पीपुल जैसे उदारतावादी नागरिक अधिकार संगठनों के सामने वैधता का संकट भी पैदा किया। प्रतिरोध की अपनी राजनीति के कारण पैंथर्स काले लोगों की समस्याओं से ज्यादा गहरायी से जुड़ गये। दरअसल, अमेरिकन इण्डियन मूवमेंट और प्यूरटोरिकन यंग लाइर्स जैसे कई संगठनों ने भी अपने हिसाब से पैंथर्स के तरीकों को अपनाया और अमेरिकी समाज की रैडिकल समालोचना की। इन संगठनों ने सामुदायिक और सांस्कृतिक सशक्तीकरण के लिए समानांतर नस्ल-आधारित आंदोलन चलाया।

पैंथर्स पर किये गये अनुसंधानों में एक तथ्य यह भी निकल कर आया है कि उन्होंने यह कहते हुए संयुक्त राज्य अमेरिका को खारिज किया कि यहाँ लम्बे समय से काले लोगों का शोषण और दमन होता रहा है, लेकिन दूसरी तरफ उन्होंने देश के लोकतांत्रिक मूल्यों में अपना भरोसा क्रायम रखा। अमेरिकी समाज की गहरी आलोचना करने के बावजूद पैंथर्स ने अमेरिकी लोकतंत्र को गहरायी प्रदान की। उन्होंने इसकी सबसे उदारतावादी व्याख्याओं को ज्यादा व्यापक और जीवंत बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

देखें : काला राष्ट्रवाद, नस्लवाद, फ्रेंज़ फ़ानो।

संदर्भ

1. पी. जोसेफ़, (2006), *वेटिंग टिल द मिडनाइट आवर : अ नैरेटिव हिस्ट्री ऑफ़ ब्लैक पावर इन अमेरिका*, हेनरी हॉल्ट, न्यूयॉर्क.
2. डी. मुर्च (2007), 'द कैम्पस ऐंड द स्ट्रीट : रेस, माइग्रेशन ऐंड ऑरिजिन ऑफ़ ब्लैक पैंथर्स पार्टी इन ऑकलैण्ड', *सीए सोल्स : अ क्रिटिकल जर्नल ऑफ़ ब्लैक पॉलिटिक्स, कल्चर ऐंड सोसाइटी*.
3. जे. रोड्स (2005), *फ्रेमिंग द ब्लैक पैंथर्स : द स्पेक्टैकुलर राइज ऑफ़ अ ब्लैक पावर आइकॉन*, न्यू प्रेस, न्यूयॉर्क.

— कमल नयन चौबे

बचपन

(Childhood)

पारम्परिक समाजशास्त्र के दायरे में बचपन स्वतंत्र विषय नहीं माना जाता था। बचपन की अवस्था से संबंधित शोध और अध्ययनों में उसका बृहत्तर संदर्भ परिवार या स्कूल से तय होता था, और ये दोनों संस्थाएँ बच्चे के समाजीकरण की जगह के रूप में देखी जाती थीं। समाजीकरण की धारणा इतनी प्रबल थी कि बच्चे के विकास और अस्तित्व की चर्चा के अन्य सम्भावित बिंदुओं पर समाजशास्त्रियों का ध्यान ही नहीं जाता था। वैकासिक मनोविज्ञान भी इस अवधारणात्मक जकड़न से ग्रस्त था। अगर पारम्परिक समाजशास्त्र में बचपन केवल समाजीकरण का पर्याय बन गया था, तो वैकासिक मनोविज्ञान भी इस धारणा से आगे नहीं बढ़ रहा था कि बच्चा एकलचरेशन या समाजीकरण के जरिये ही पूर्ण वयस्कता की ओर क्रम बढ़ाता है। इस तरह समाजीकरण के सिद्धांत और वैकासिक मनोविज्ञान में ही बच्चों को समाज का सक्रिय कर्ता मानने के बजाय समाजीकरण की प्रक्रिया का निष्क्रिय ग्रहणकर्ता माना जाता था। इसके अलावा इन दोनों पद्धतियों का एक बड़ा दोष यह भी था कि उनमें बच्चे की वर्तमान स्थिति के बजाय इस बात पर ज्यादा जोर रहता था कि बच्चा इन प्रक्रियाओं से गुज़र कर क्या बनता है।

समाजीकरण का सिद्धांत इस तथ्य को अनदेखा करता है कि समाजीकरण में बच्चे की भी सक्रिय भूमिका होती है। वह अगर खुद समाजीकृत होता है तो दूसरों के समाजीकरण में भी भूमिका निभाता है। इस तरह बचपन के समाजशास्त्र में यह पहलू अनुपस्थित था कि उसमें बच्चों को सक्रिय सामाजिक एक्टर मानने के बजाय एक निष्क्रिय पात्र मान लिया गया था।

इतिहासकार फ़िलिप एरीज़ ने अपने अध्ययन में इस तथ्य को लक्षित किया है कि बचपन की अवधारणा स्थिर और एकायामी नहीं रही है। उन्होंने डायरी, चित्रकला और अन्य ऐतिहासिक दस्तावेजों की पड़ताल के जरिये बताया है कि बचपन की अवधारणा न केवल इतिहास-समाज-संस्कृति सापेक्ष है बल्कि समय के साथ उसमें कई विशिष्ट आयाम भी जुड़ते गये हैं। उदाहरण के लिए मध्यकाल में बच्चों के प्रति उदासीनता का रवैया हावी था। सत्रहवीं सदी में बच्चों को मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखा जाने लगा। एरीज़ के अध्ययन से पता चलता है कि मध्यकाल में बच्चों को समाज का अभिन्न अंग समझा जाता था उस समय बचपन को एक स्वतंत्र अवधारणा नहीं माना जाता था। आधुनिकता के साथ बच्चों के प्रति उदासीनता का यह रवैया बदलने लगा और

उन्हें खिलौने की तरह देखा जाने लगा।

एरीज़ बचपन के जिन विभिन्न रूपों का वर्णन करते हैं उनका पश्चिम में बचपन की आधुनिक अवधारणा से मेल नहीं बैठता। पश्चिम के प्रचलित मतानुसार बचपन को निर्दोष और अबोधता का ऐसा काल माना जाता है जिसमें बच्चे को समाज का अंग न मानकर उसे वयस्क समाज से अलग और सुरक्षित रखने पर जोर दिया जाता है। लेकिन आधुनिक पश्चिमी समाज में भी बचपन कई तरह की विसंगतियों से घिरा है। सामाजिक जीवन के कई कार्यों को बच्चों के लिए वांछनीय माना गया है और कई चीजों को उनके लिए निषिद्ध किया गया है। मसलन, इंग्लैण्ड में चौदह साल के बच्चों को कुछ खास तरह के काम करने की अनुमति दी गयी है। वहाँ दस साल के बच्चों को ज़िम्मेदार मान लिया जाता है जबकि मताधिकार की उम्र अठारह वर्ष निर्धारित की गयी है।

बचपन की अवधारणा और उसका अर्थ हर संस्कृति में अलग-अलग होता है। इसलिए उसका कोई एक रूप या धारणा स्थिर नहीं की जा सकती। उदाहरण के लिए सामंथा पंच के अध्ययन से पता चलता है कि बोलिविया जैसे देश में पाँच साल से ऊपर के बच्चे से यह उम्मीद की जाती है कि वह पानी भरने या लकड़ी इकट्ठा करने जैसे कामों में परिवार का हाथ बँटाये। ऐसे बच्चे जब परिवार की ज़िम्मेदारियों में भाग लेते हैं तो उन्हें गर्व होता है। इस तरह बचपन को देखने का ग़ैर-पश्चिमी नजरिया बचपन के अवधारणात्मक विकास और उसके सामाजिक अध्ययन में एक नयी प्रस्थापना का आधार पेश करता है। इसके मुताबिक बचपन की संकल्पना का आयु से कोई सीधा और अनिवार्य संबंध नहीं है। विकासशील देशों में बच्चे बखूबी उत्पादक काम करते हुए आय का सृजन करते हैं और घर की ज़िम्मेदारियों में भाग लेते हैं। यह परिघटना पश्चिम की उस अवधारणा को काफ़ी हद तक निरस्त कर देती है कि बचपन सिर्फ़ अबोध होता है और उन्हें वयस्क समाज से सुरक्षित रखना चाहिए। विकासशील देशों के इन उदाहरणों से समाजीकरण का वह पूरा विमर्श स्वयं समस्याकृत होने लगता है जिसमें बच्चों को केवल अक्रिय ग्रहणकर्ता की भूमिका दी गयी है।

बचपन की इस नयी प्रस्थापना ने सामाजिक अध्ययन को आठवें दशक में प्रभावित करना शुरू किया। इंग्लैण्ड, युरोप और अमेरिका में उत्तरोत्तर प्रचलित होने वाली यह धारा बचपन को एक सामाजिक परिघटना के तौर पर देखती है। जेम्स एवम्प्राउट इस प्रस्थापना के केंद्रीय दृष्टिकोण को कुछ इस तरह सूत्रबद्ध करते हैं : बचपन को सामाजिक निर्मिति माना जाए; बचपन के सामाजिक विश्लेषण को वर्ग, लिंग और जातीयता के संदर्भों से नहीं काटा जा सकता; बचपन और बच्चों के सामाजिक संबंधों का अध्ययन का एक स्वतंत्र विषय माना जाए; बचपन के समाजशास्त्र में नृजातिवर्णन की

पद्धति एक प्रभावशाली उपकरण हो सकती है; और बचपन का समाजशास्त्र समाज में बचपन के निर्माण की प्रक्रिया का अध्ययन है।

पिछले दो दशकों के दौरान इस नयी धारा के तहत बचपन की परिस्थितियों का बहुआयामी अध्ययन किया गया है जिसमें अनाथ, सड़कों पर गुज़र बसर करने वाले और कामकाजी बच्चों के अलावा स्कूल, समय, फुरसत आदि के साथ उनके संबंधों की पड़ताल की गयी है। बचपन के सामाजिक अध्ययन में नये अध्येताओं ने बच्चों का जिन विभिन्न सामाजिक संदर्भों में अध्ययन करने का प्रयास किया है उनमें बचपन को किसी सार्वभौम संकल्पना के बजाय जेंडर, प्रतिकूलताओं और वर्गीय सीमाओं से प्रभावित और संरचित होने वाली अवस्था की तरह देखा गया है।

अध्ययन की इस धारा को लेकर शुरुआती दौर में अनेक विद्वानों ने शंकाएँ व्यक्त की थीं। उनका तर्क था कि बच्चों और किशोरों से सूचना जुटाना समस्याग्रस्त रहता है क्योंकि वे अपने सामाजिक जीवन के बारे में स्पष्ट और ठोस ढंग से बात नहीं कर पाते। लेकिन पिछले दो दशकों के दौरान बचपन के विभिन्न रूपों, उनकी वर्गीय बनावटों को लेकर जिस तरह का उच्चस्तरीय शोध हुआ है उससे यह शंका निर्मूल साबित हुई है। नये शोध से निकले नतीजों को अब बच्चों के विकास और कल्याण से जुड़ी नीतियों में अधिकाधिक शामिल किया जा रहा है। हालाँकि इस बीच में किये गये अधिकांश अध्ययनों में नृजातिवर्णन की पद्धति का उपयोग किया गया है लेकिन बचपन का यह नया समाजशास्त्र जिस तरह विकसित हुआ है उसमें कई अन्य तरह की शोध पद्धतियों का समावेश भी देखा जा सकता है। इसलिए कई विद्वानों का मानना है कि बचपन का यह समाजशास्त्र असल में एक अंतरविषयक अध्ययन बन गया है। इस क्षेत्र में आजकल इतिहासकार, मानवशास्त्री, भूगोलवेत्ता आदि से लेकर मानवशास्त्री तथा मनोवैज्ञानिक सभी शामिल हैं। कई शोधकर्ता अपने अध्ययन के लिए सामग्री जुटाने के लिए प्रश्न आधारित सर्वेक्षण आदि का प्रयोग करते हैं जिसे नृजातिवर्णन जितना ही महत्वपूर्ण माना जा सकता है। जैसा कि हर तरह के शोध के साथ होता है शोधकर्ता जिस पद्धति का इस्तेमाल करता है वह एक तरह से उसके अपने दृष्टिकोण, प्रश्नों और आग्रह का परिचायक होता है। पिछले दो दशकों के दौरान किये गये शोध की प्रवृत्ति पर नजर डालने से यह बात लक्षित की जा सकती है कि पहले का शोध बच्चों को एक बाहरी वस्तु की तरह देखता था जबकि नया शोध बच्चों को विषय मानकर चलता है।

हाल में शोध की नयी पद्धति में एक नया प्रयोग किया गया है जिसमें बच्चों से संबंधित अध्ययन में खुद उन्हें ही

शोधकर्ता और अध्ययन का सूत्रधार बनाया गया है। नये अध्ययन में बचपन और बच्चों के सामाजिक जीवन का कई अप्रत्याशित कोणों से परीक्षण किया गया है। बचपन के इस नये समाजशास्त्र की अगर किसी एक स्थाई उपलब्धि का जिक्र किया जाए तो यह कहना अनुपयुक्त नहीं होगा कि उसने बच्चों को घर और स्कूल के संदर्भ से आजाद करके उन्हें निजता का संदर्भ प्रदान किया। इस अर्थ में यह अध्ययन अब तक की पद्धतियों से इस मायने में श्रेयस्कर ठहरता है क्योंकि उसमें बच्चों को उनकी सही जगह पर बहाल किया गया है। सम्भव है कि भविष्य में बचपन का सामाजिक अध्ययन बच्चों को पुनः घर, स्कूल और परिवार के संदर्भ में रखकर विचार करे। यह प्रवृत्ति कुछ हद तक नारीवाद के शुरुआती दौर की याद दिलाती है जब अध्येताओं ने स्त्री के उत्पीड़न में पितृसत्ता की भूमिका उजागर करने के लिए जेंडर की निर्मिति को उसके अवयवों में खण्ड-खण्ड करके देखा था। इसी तरह बचपन के नये समाजशास्त्रियों ने बच्चों को वयस्क समाज के उत्पीड़क श्रेणीकरण से मुक्त किया है। यह सम्भवतः इसी का परिणाम है कि बच्चों को आज मुख्यधारा के सामाजिक अनुशासनों में सामाजिक तौर पर एक समर्थ और एक्टर के तौर पर देखा जाने लगा है। कई विद्वानों का मानना है कि सामाजिक अध्ययनों में इस अवस्था की आमद से पहले बचपन को पुनः सामाजिकता में आरूढ़ करने और व्याख्यायित करने का यत्न नहीं किया जा सकता था।

देखें : अर्थव्यवस्था का समाजशास्त्र, अभिजन, अभिरुचि, आत्महत्या, उन्मूलनवाद, एजेंसी, कर्मकाण्ड, क्रानून, कारागार, गोपनीयता, गृहविहीनता, जाति और जाति-व्यवस्था-1 से 4 तक, जादू, जीवन-शैली, टेलरवाद, डार्विनिज्म और चार्ल्स रॉबर्ट डार्विन, फुरसत, बुजुर्गियत का समाजशास्त्र, बेगानापन, भीड़, भ्रष्टाचार का समाजशास्त्र-1 और 2, विचलन, ज्ञान का समाजशास्त्र।

संदर्भ

1. ए. जेम्स और ए. प्राउट (सम्पा.) (1997), *कंसट्रक्टिंग ऐंड डिक्स्ट्रक्टिंग चाइल्डहुड : कंटेम्परेरी इशूज इन द सोसिओलॉजिकल स्टडी ऑफ चाइल्डहुड*, द्वितीय संस्करण, फाल्मर, लंदन.
2. ए. जेम्स, सी जेम्स और ए. प्राउट (1998), *थियराइजिंग चाइल्डहुड*, पॉलिटी, लंदन.
3. सी. जेम्स (1996), *चाइल्डहुड*, रॉटलेज, लंदन.
4. एस. स्टीफंस (सम्पा.) (1995), *चिल्ड्रन ऐंड द पॉलिटिक्स ऑफ क्लचर*, प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन.

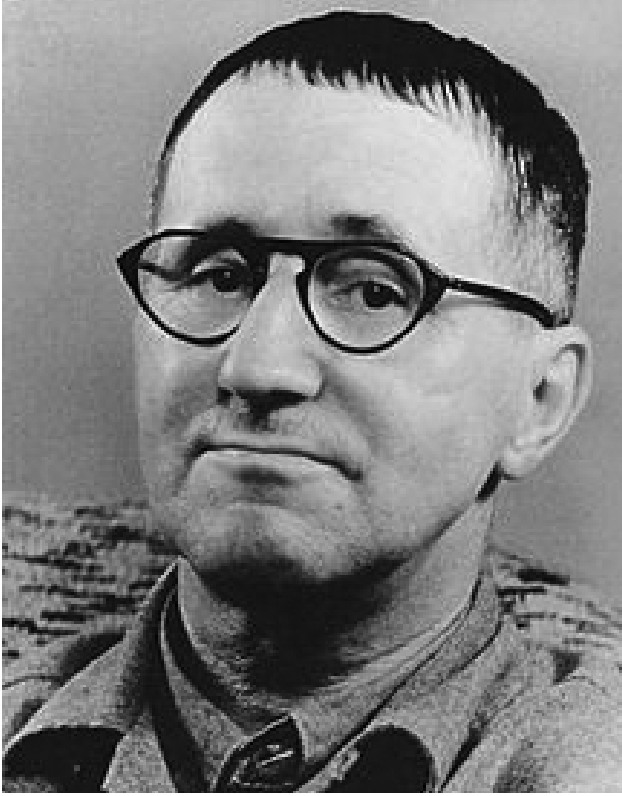
— नरेश गोस्वामी

बर्तोल्त ब्रेख्त

(Bertolt Brecht)

जर्मन कवि, नाट्यकार, निर्देशक, मार्क्सवादी संस्कृतिकर्मी और सिद्धांतकार बर्तोल्त ब्रेख्त (1898-1956) को महाकाव्यात्मक रंगमंच (एपिक थिएटर) की नींव रखने और अभिनय की एक नयी शैली विकसित के लिए जाना जाता है जिसे ए-इफ़ैक्ट अर्थात् अलगाव का सिद्धांत (एलिएनशन थियरी) कहा गया। उनकी ये उपलब्धियाँ उस ज़माने में सामने आयीं जब बीसवीं सदी में युरोप का रंगमंच यथार्थवाद से आक्रांत था और रूस के प्रसिद्ध निर्देशक स्तानिस्लाव्स्की के मैथड (अभिनय प्रशिक्षण का सिद्धांत) ने रंगकर्मियों को जकड़ रखा था। ऐसे समय में बर्तोल्त ब्रेख्त के सिद्धांतों और रंग-प्रयोगों ने युरोप के रंगमंच का परिचय अपनी नवीन शैली से करवाया। ब्रेख्त का प्रभाव न केवल इंग्लैंड, फ्रांस और जर्मनी के संस्कृतिकर्मियों पर पड़ा, बल्कि उन्होंने सारी दुनिया में वामपंथी विचारधारा से प्रतिबद्ध और जनोन्मुख रंगकर्म करने वाले संस्कृतिकर्मियों पर अपनी छाप छोड़ी। ब्रेख्त ने यथार्थवाद को एक साजिश करार दिया जिसमें अभिनेता और निर्देशक दर्शकों को भावुकता और सम्मोहन में जकड़ कर नाट्य स्थितियों में अपने साथ बहा ले जाते थे। दर्शक नाटकीय स्थितियों को सहज और स्वाभाविक मान लेता था। इस प्रक्रिया में दर्शकों को यह अवकाश ही नहीं मिलता था कि वे चैतन्य होकर स्थितियों का विश्लेषण कर सकें।

नाटक को एक निश्चित परिणति तक पहुँचाने और दर्शक का मनोरंजन करने की बजाय ब्रेख्त नाटक मंचन के बाद दर्शक पर पड़ने वाले प्रभाव के बारे में अधिक चिंतित थे। ब्रेख्त के रचनात्मक विकास को चार चरणों में बाँट कर देखा जा सकता है। पहला दौर 1914 से 1930 के बीच चला जब उन्होंने अपनी शुरुआती कविताएँ और कहानियाँ लिखीं। इसी दौरान उन्होंने अपने दो गीतनाट्य (ओपेरा) भी रचे। 1930 से 33 के बीच की अवधि ब्रेख्त के लर्निंग प्लेज़ के लिए जानी जाती है। इसके बाद 1948 तक वे जर्मनी से निष्कासित रहे और इस बीच कई नाटकों की रचना की। इसके बाद वे जर्मनी लौटे और बर्लिनर ऐनसेम्बल की स्थापना की। अपने इस चौथे दौर में ब्रेख्त ने शेक्सपियर, मोलियर और अन्य महान नाटककारों की रचनाओं के रूपांतरण किये। हालाँकि ब्रेख्त ने कम्युनिस्ट पार्टी की सदस्यता कभी नहीं ली, पर मार्क्सवाद में उनकी गहरी आस्था थी और दो विश्व-युद्धों के बीच उनका निजी और रचनात्मक जीवन उथल-पुथल से भरा हुआ था।



बर्तोल्त ब्रेख्त (1898-1956)

ब्रेख्त समकालीन रंगमंच पर हावी अरस्तू के सिद्धांतों, प्रोसेनियम रंगमंच और यथार्थवादी शैली से बाहर निकलना चाहते थे। रंगमंच को एक विकल्प देने की अभिलाषा के साथ उन्होंने विज्ञान और तकनीक के प्रसार और उससे प्रभावित होकर बदल रही जीवन शैली को पहचाना। उनका खयाल था कि बदलाव की इस प्रक्रिया के लिए नये रंगमंच की जरूरत पड़ेगी। इसी प्रक्रिया में उन्होंने नाटकीय रंगमंच (ड्रामेटिक थिएटर) की जगह महाकाव्यात्मक रंगमंच (एपिक थिएटर) की स्थापना की जो दर्शकों के अनुभव को सहलाने की जगह उनकी तर्क क्षमता को उत्तेजित करता है। बर्तोल्त ब्रेख्त का कहना था कि दुनिया में अगर किसी चीज को स्वाभाविक और सहज मान लिया जाता है तो इसका मतलब यही होता है कि उसे समझने के अन्य प्रयास हुए ही नहीं। यथार्थवादी रंगमंच और उसकी प्रविधियाँ इसी तरह सहज मान ली गयी थीं। यथार्थवादी रंगमंच का जोर दर्शकों के दिमाग की जगह उनकी भावनाओं को सम्मोहित करने पर था। इसके लिए वह यथार्थ का एक भ्रम रचता था, जिसमें दर्शक कथा और पात्र से अपना तादात्म्य महसूस करते थे और क्लाइमेक्स तक पात्र की समस्या के हल में अपनी समस्या का हल पा लेते थे। ब्रेख्त ने महाकाव्यात्मक रंगमंच में दर्शक को प्रेक्षक में बदल दिया जो नाटक को नाटक की तरह एक आलोचनात्मक दूरी से देखता था। वह सत्य को सहज रूप में देखने के बजाय स्वयं को उसे एक भिन्न कोण से देखते

हुए पाता था। महाकाव्यात्मक रंगमंच का नाटकीय रंगमंच से अंतर करते हुए उन्होंने बताया कि महाकाव्यात्मक रंगमंच जीवित मानवों द्वारा खेला जाता है और नाटकीय रंगमंच लिखित शब्दों से संचालित होता है। एपिक थिएटर में दर्शकों के आगे की आभासी चौथी दीवार गिर जाती है और वह सही मायनों में खेल देखता है, जिसमें स्थितियाँ उनकी पूरी पृष्ठभूमि में उपस्थित होती हैं, विरोधी छवियाँ और संगत छवियाँ एक साथ मौजूद होती हैं, इसमें कथावस्तु की जगह आख्यान केंद्र में होता है और मोंटाज छवियों से युक्त इस आख्यान का विकास रैखिक ना होकर वक्र होता है। इस रंगमंच के लिए अभिनेता की शैली भी अलग होती है जिसे ब्रेख्त ने ए-इफैक्ट करार दिया।

स्तानिस्लाव्स्की ने अभिनेता को चरित्र की त्वचा के भीतर सरकने को कहा था। इस प्रक्रिया में अभिनेता की इयत्ता और चरित्र की इयत्ता को एकमेक होना अनिवार्य था। तभी नाटक यथार्थ में तब्दील होता। ब्रेख्त नाटक को प्रदर्शन की तरह देखना चाहते थे, यथार्थ की तरह नहीं। वे चाहते थे कि अभिनेता चरित्र की तरह नहीं अभिनेता की तरह लगे। इसी धारणा ने अभिनय के ऐलिऐनेशन सिद्धांत को जन्म दिया। जिसमें अभिनेता अपने चरित्र से एक दूरी पर रह कर अभिनय करता था। वह एक साथ चरित्र भी था और उसका आलोचक या व्याख्याकार भी। चरित्र से अलग रह कर अभिनय करने से चरित्र के अंतर्विरोध उजागर होते थे। इसीलिए उन्होंने अभिनेता को चरित्र के मनोवैज्ञानिक व्यवहार की जगह सामाजिक व्यवहार को खोजने की हिदायत दी। उन्होंने अभिनेता को चरित्र होने की बजाय उसे दिखाने के लिए कहा। अलगाव उत्पन्न करने के लिए उन्होंने कई युक्तियाँ विकसित कीं जिसमें चरित्रों की अदला-बदली, विपरीत लिंग के चरित्रों की भूमिका, संवादों के बोलने का ढंग, वृंदगान, संगीत, देह गति, इत्यादि प्रमुख थी। अलगाव का प्रभाव उत्पन्न करने के लिए अभिनेता को विशेष तौर पर प्रशिक्षित होना था। ब्रेख्त को अभिनेताओं के प्रशिक्षण में काफ़ी कठिनाई हुई क्योंकि अधिकांश अभिनेता यथार्थवादी शैली में अभिनय के लिए प्रशिक्षित थे। उनके लिए अपना प्रशिक्षण भूलना इतना सहज नहीं था। इसीलिए इस सिद्धांत के प्रयोग में वे संतोषजनक उपलब्धि नहीं हासिल कर सके। महाकाव्यात्मक रंगमंच और उसके अभिनय के संबंध में उन्होंने कई जगह अपने विचार प्रकट किये हैं। *अ शार्ट आर्गोनम फ़ॉर थिएटर* में इन विचारों को एक साथ पढ़ा जा सकता है।

ब्रेख्त के रंग-चिंतन में दर्शक के लिए भी जगह है। वे दर्शकों को सम्मोहित करने की बजाय उसे झकझोरते हैं। वे कहते हैं कि नाटकीय रंगमंच का दर्शक घटनाओं के सम्भावित मानते हुए हुए अपरिवर्तनीय मानता है जबकि

महाकाव्यात्मक रंगमंच का दर्शक कहता है कि यह अविश्वसनीय है, असाधारण है, इसे रोकना चाहिए। वह हँसने के समय रोता है रोने के समय हँसता है। वह यथास्थितिवादी बनने की बजाय परिवर्तन का पक्षधर बनता है। वे नाटक को एक परिवर्तनकारी कला मानते थे जिसका काम मनोरंजन के साथ शिक्षा भी है।

ब्रेख्त के सिद्धांतों पर एशियायी परम्परा का गहरा प्रभाव था। 1935 में ब्रेख्त को सोवियत संघ में चीनी अभिनेता लेन फेंग का अभिनय देखने का अवसर मिला। हिटलर के दमन और अत्याचार से बचने के लिए ब्रेख्त ने वहाँ शरण ले रखी थी। फेंग के अभिनय से प्रभावित होकर ब्रेख्त ने कहा कि जिस चीज़ की तलाश वे वर्षों करते रहे, अन्ततः उन्हें वह लेन फेंग के अभिनय में मिल गयी। ब्रेख्त की सिद्धांत-रचना का यह प्रस्थान बिंदु है। इस प्रदर्शन में उन्होंने देखा कि अभिनेता कैसे यथार्थवादी रंग-उपकरणों के बिना अपनी शारीरिक मुद्राओं तथा भंगिमाओं से नाटक के सभी प्रसंगों की अविस्मरणीय और भावपूर्ण प्रस्तुति कर रहे हैं। यह ठीक वैसे ही था जैसे भारतीय शास्त्रीय और पारम्परिक रंगमंच में अभिनेता अपनी देह और भाषा से ही वातावरण की सृष्टि कर लेते थे। भिखारी ठाकुर के प्रसिद्ध नाटक *बिदेसिया* में मंच पर ही घूम कर अभिनेता बिहार के किसी गाँव से कोलकाता पहुँच जाता था। ब्रेख्त के सिद्धांतों ने अरस्तू द्वारा प्रतिपादित संकलन त्रयी के सिद्धांत की अनिवार्यता का भी निषेध किया। भारतीय परम्परा के नाटकों में संकलन त्रयी का अभाव मिलता है और नाटक रस से संचालित होता है। इसीलिए ब्रेख्त के रंग सिद्धांतों का भारत में बहुत प्रचार हुआ। एक प्रकार से इसमें भारतीय सिद्धांतों की पश्चिमी मान्यता से जुड़ा गर्व-भाव भी निहित था और उनकी पद्धति यहाँ के अनुकूल भी थी।

हबीब तनवीर ब्रेख्त से प्रभावित शुरुआती रंगकर्मियों में थे। हबीब तनवीर अपने युरोप प्रवास के दौरान ब्रेख्त से मिलने के लिए जर्मनी गये लेकिन वहाँ उनके पहुँचने से पूर्व ही ब्रेख्त की मृत्यु हो गयी। हबीब तनवीर ने वहाँ बर्लिन ऐनसेम्बल की रंग-प्रस्तुतियों को देखने के साथ-साथ ब्रेख्त के सिद्धांतों को सीखा। संगीत, कोरस, सादा रंगमंच, महाकाव्यात्मक विधान; ये सब कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो ब्रेख्त और भारतीय परम्परा दोनों में ही मौजूद हैं जिन्हें हबीब साहब और भारत के अन्य रंगकर्मियों ने आत्मसात किया। भारत के कुछ अन्य रंगकर्मियों को भी जर्मनी जाकर बर्लिन ऐनसेम्बल थियेटर के काम को नज़दीक से देखने का मौक़ा मिला और कार्ल वेबर, फ़्रिट्ज़ बेनेविट्ज़ जैसे निर्देशकों ने भारत की यात्रा भी की और ब्रेख्त के सिद्धांतों के आधार पर उन्होंने प्रस्तुतियाँ कीं।

साठ और सत्तर के दशक में ब्रेख्त भारतीय रंगमंच के

केंद्र में आये। ब्रेख्त के विख्यात नाटकों *गुड वुमॅन ऑफ़ सेजुआन*, *मदर करेज*, *श्री पैनी ओपेरा*, *पुंटिला एंड हिज़ मैन मैटी*, *गैलिलियो*, *क्राकेशियन चाक सर्किल* इत्यादि का भारतीय रंगमंच पर विविध भाषाओं और बोलियों में मंचन हुआ। इसी दौरान जड़ों के रंगमंच का नारा बुलंद हुआ था और आधुनिक भारतीय रंगमंच पर भारतीय लोक-परम्परा के रंग-प्रयोग किये जाने लगे। यह प्रयोग नाट्य लेखन और मंचन दोनों क्षेत्र में हो रहा था। ऐसे समय में भारतीय रंगकर्मियों को ब्रेख्त बहुत अनुकूल जान पड़े। गिरीश कार्नाड ने भी अपने लेखन पर ब्रेख्त के प्रभाव को स्वीकार किया है। कार्नाड के *हयवदन*, विजय तेंदुलकर के *घासीराम कोतवाल*, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के *बकरी* आदि नाटकों पर ब्रेख्त का साफ़ प्रभाव देखा जा सकता है। हबीब तनवीर ने लिखा है कि ब्रेख्त आपको अपनी अस्मिता बनाये रखना सिखाते हैं। इसलिए अगर भारतीय नाटककार एक वास्तविक देशज रंगमंच विकसित करते हैं तो वह साथ ही साथ सचमुच में ब्रेख्तियन थिएटर भी होगा। दूसरे शब्दों में वह ऐसा रंगमंच होगा जो न केवल भारत की शास्त्रीय और लोक-परम्परा को आत्मसात करने वाला होगा, जिसके मंचन में संगीत और नृत्य समाहित होंगे, बल्कि वह साथ साथ सार्वदेशिक भी होगा।

ब्रेख्त ने वस्तुतः युरोपिय रंगमंच को यथार्थवाद से आगे का रास्ता दिखाया। उन्होंने महसूस किया कि नाटकीय अभिव्यक्ति को प्रस्तुत करने और ग्रहण करने की प्रक्रिया में ठहराव आ गया है। बदलते समाज में रंगमंच को अपनी एक भूमिका सामाजिक जीवन में बनाना चाहिए जिसका ध्येय सिर्फ़ मनोरंजन नहीं होगा, वह शिक्षा और ज्ञान का भी प्रसार करेगी। ब्रेख्त ने यह भी देखा कि देखने की प्रक्रिया जिसे मनुष्य सहज मान लेता है वस्तुतः एक प्रदत्त स्थिति है जिसमें वह एक विशेष ढंग से देखने के लिए अनुकूलित होता है। अतः इस देखने की प्रक्रिया को भी बदलने की ज़रूरत है। उनके नाटकों में देखने के इस बदले ढंग को देखा जा सकता है। उनके नाटक सामान्य प्रचलित विषयों पर नहीं हैं। अपराध, हत्या, वेश्यावृत्ति, बलात्कार, हिंसा इत्यादि विषय उनके नाटकों में हैं। उनके पात्र भी ऐसे समाज और वर्ग से संबंधित हैं जिनकी उपस्थिति मुख्यधारा के नाटकों में नहीं थी। ब्रेख्त का रंगमंच शिक्षा और मनोरंजन, व्यक्तिवाद और सामूहिकता, संदेहवाद और मिथक, नक़ली दुनिया और असली दुनिया की विरोधी विशेषताओं का मुश्किल समन्वय है। ये सभी अलग-अलग दिशाओं में उनके नाटकों को खींचते हैं और हर प्रस्तुति में इनके मिश्रण का अनुपात बदलता है। उन्होंने जीवन और गति की निरंतरता की अनुभूति है।

ब्रेख्त का जन्म 10 फरवरी, 1898 को बवेरिया में हुआ था। छोटी उम्र में ही साहित्य से लगाव होने के बाद

उन्होंने अपनी रचनाशीलता की शुरुआत कवि के रूप में की थी। मेडिकल छात्र रहते हुए उन्होंने आर्थर कुचर के थिएटर सेमिनार में भाग लिया और इसी क्रम में अपना पहला नाटक भी लिखा। प्रथम विश्व-युद्ध के दौरान मेडिकल सेवा करते हुए लिखा गया नाटक *ड्रम्स इन द नाइट* उनका पहला मंचित नाटक था। बर्लिन आने के बाद वे मार्क्स से प्रभावित हो कर साम्यवादी विचारधारा की तरफ आकर्षित हुए। उन्होंने *कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो* और *दास कैपिटल* का गहरा अध्ययन किया। ब्रेख्त ने हेलेना वायल से शादी की जो श्रेष्ठ अभिनेत्री भी थीं। जर्मनी में नाज़ियों के सत्ता में आने के बाद वे जर्मनी छोड़ने को विवश हुए और प्राग, वियना, ज्यूरिख, फ्रिनलैण्ड होते हुए अंततः अमेरिका में जा कर शरण ली। वहाँ हालीवुड में पटकथा लेखक बनने की उनकी योजना विफल हुई। साम्यवादी रुझान के कारण अमेरिका में उन्हें कम्युनिस्ट विरोधी पड़ताल का सामना करना पड़ा। चौदह साल के निर्वासन के बाद वे 1948 में जर्मनी लौटे। पूर्वी बर्लिन में साम्यवादी शासन व्यवस्था ने उनका स्वागत किया। जर्मन थिएटर के लिए उन्होंने *मदर करेज* की प्रस्तुति की। 1949 में ब्रेख्त ने बर्लिन ऐनसेम्बल थिएटर की स्थापना की। 1956 में देह त्यागने तक वे ऐनसेम्बल के साथ ही प्रयोगरत रहे।

देखें : आधुनिक रंगमंच, आधुनिक भारतीय रंगमंच-1 और 2, कोंस्तांतिन सेर्गेइविच स्तानिस्लाव्स्की।

संदर्भ

1. बर्तोल्त ब्रेख्त (1957), *ब्रेख्त आन थिएटर*, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली.
2. भारत रत्न भार्गव (2006), *रंग हबीब*, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नयी दिल्ली.
3. जान विलेट (1960), *द थियेटर ऑफ बर्तोल्त ब्रेख्त : अ स्टडी फ्रॉम एट आस्पेक्ट*, न्यू डायरेक्शन बुक्स, न्यूयॉर्क.
4. एरिक बेंटले (1968), *द ब्रेख्त कमेंटरीज़, 1943-1980*, ग्रोव प्रेस, न्यूयॉर्क.

— अमितेश कुमार

बहुजन समाज पार्टी-1

(दलित राजनीतिक समुदाय का उदय)

(Bahujan Samaj Party-1)

बहुजन समाज पार्टी (बसपा) का उभार स्वतंत्र भारत की राजनीति की सबसे महत्वपूर्ण घटनाओं में से एक है। दलितों के राजनीतिक हितों को केंद्र में रखकर राजनीति करने वाले इस दल को राष्ट्रीय पार्टी का दर्जा मिला हुआ है। मुख्य तौर पर इसकी राजनीति उत्तर प्रदेश में ही केंद्रित रही है जहाँ दलितों के भीतर राजनीतिक जागरूकता पैदा करने और उनकी गोलबंदी में उसकी उल्लेखनीय नेतृत्वकारी भूमिका है। यद्यपि इसे मुख्य रूप से उत्तर प्रदेश में ही राजनीतिक सफलता मिली, फिर भी इसने देश के दूसरे भागों में रहने वाले दलितों में भी आत्माभिमान और राजनीतिक चेतना का आवेश पैदा करने में सफलता प्राप्त की। बसपा की वजह से भारतीय राजनीति के मुहावरे में भी बदलाव आया है। चुनावी राजनीति में दलितों के सशक्तीकरण के लिए इस पार्टी ने हर तरह की विचारधारा वाले दलों से गठजोड़ का दरवाजा खुला रखा। बसपा के संस्थापक कांशीराम ने डॉ. आम्बेडकर के एक कथन को अपनी राजनीति का केंद्रीय फ़िकरा बनाया कि राजसत्ता दलितों के लिए 'मास्टर की' (या चाबियों की चाबी या गुरु किल्ली) है।

बसपा ने भारतीय राजनीति को बहुजन, सर्वजन और मनुवाद जैसी नयी अवधारणाएँ दी हैं। बहुजन शब्द महात्मा फुले द्वारा अपनायी गयी सांस्कृतिक राजनीति की देन है। फुले से पहले बहुजन अवधारणा बुद्ध की उक्ति 'बहुजन हिताय-बहुजन सुखाय' में मिलती है। आज की राजनीति के लिए इसका व्यावहारिक मतलब है दलित मतदाताओं, पिछड़े वर्ग के गरीब मतदाताओं और धर्म परिवर्तन करने वाले मुसलमान मतदाताओं का गठजोड़। बसपा के उभार से पहले भारतीय जनता पार्टी के नेतृत्व में होने वाली बहुसंख्यकवादी राजनीति का चरित्र साम्प्रदायिक और मुख्यतः मुसलमान विरोधी ही होता था। लेकिन बसपा ने एक सेकुलर क्रिस्म की बहुसंख्यकवादी राजनीति की परम्परा डाली जिसके आधार में सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक समानता का विचार था। सर्वजन का व्यावहारिक अर्थ है दलित राजनीतिक हितों की प्रधानता में ऊँची जातियों से चुनावी गठजोड़ करना और उसके फलस्वरूप मिली सत्ता में उन्हें भी हिस्सेदारी देना। मनुवाद एक ऐसा प्रत्यय है जिससे बसपा ने ब्राह्मणवाद को प्रतिस्थापित किया है। ब्राह्मणवाद की जगह मनुवाद का प्रयोग करने से सबसे बड़ा फ़र्क यह पड़ता है कि किसी जाति विशेष का विरोध करने के आग्रह से छुटकारा मिल जाता है। यह

पद कहीं अधिक सेकुलर और सामाजिक आलोचना के वाहक के तौर पर अधिक व्यापक है।

बहुजन समाज पार्टी की राजनीति की एक सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि उसने राजनीति की नयी-नयी शैलियों को अपना कर उत्तर प्रदेश में एक दलित राजनीतिक समुदाय का विकास करने में सफलता प्राप्त की। उत्तर प्रदेश की आबादी में बीस फ्रीसदी से ज़्यादा दलित जातियाँ हैं और वे पूरी निष्ठा के साथ बसपा के नेतृत्व में चुनाव-दर-चुनाव एकजुट रहती हैं। इसका मतलब यह कतई नहीं लगाया जा सकता है कि बसपा के राज में सभी दलित जातियों को समान रूप से लाभ मिल रहा है या राजनीतिक भागीदारी नसीब हो रही है। पिछली बसपा सरकार का अगर हम जाति के आधार पर आकलन करें तो पता चलता है कि उत्तर प्रदेश की राजनीति में अन्य दलित समुदायों की अपेक्षा जाटवों का कितना प्रभुत्व है। मायावती सरकार के 52 मंत्रियों में सिर्फ आठ ग़ैर-जाटव थे। एक-एक मंत्री दुसाध, पासी और मल्लाह जातियों से थे। दलित जातियाँ जैसे बसोर, धानुक, वाल्मीकि, डोम, गोंड, कोल, धारिकार, मुसहर, बेलवार, भुईयार, हेला, बैसवार, बॉसफोर, बेरिया, पंखा इत्यादि से दलित मंत्रिमण्डल में कोई प्रतिनिधि नहीं था।

इससे पहले कि बहुजन समाज पार्टी की राजनीतिक प्रगति का चित्रण किया जाए, दलित राजनीतिक समुदाय की रूपरेखा पर प्रकाश डालना ज़रूरी होगा। इतिहासकार बद्री नारायण के एक अध्ययन से इस पहलू पर दिलचस्प रोशनी पड़ती है। बद्री नारायण के अनुसार 'जब हम दलित समुदायों में सजातीयता और बहुस्तरीयता की बात करते हैं तो हम द्विभाजक ध्रुवीयता का निर्माण करते हैं। यह द्विभाजक ध्रुवीयता दलितों के भीतर मौजूद अन्य सीमांत और छोटे समुदायों को लोकतंत्र के विमर्श, राजनीतिक प्रतिनिधित्व और सशक्तीकरण की प्रक्रिया से बहिष्कृत करती है। मसलन, जब भी दलित समुदायों के भीतर पायी जाने वाली सजातीयता और बहुस्तरीयता पर विचार किया जाता है तो वह द्विभाजक रूप में सामने आती है, जैसे महाराष्ट्र के संबंध में महार व मतंग, आंध्र प्रदेश में माला व मदिगा और उत्तर प्रदेश के संदर्भ में चमार और पासी। दलित लोकतंत्र के भीतर राजनीतिक विमर्श का निर्माण कुछ इस तरह से होता है कि दलितों के कई छोटे समुदाय लोकतांत्रिक परिदृश्य से विलुप्त हो जाते हैं।'

बद्री नारायण के विश्लेषण के अनुसार अस्सी के दशक के मध्य उत्तर प्रदेश में दलित सशक्तीकरण के आंदोलन ने जड़ पकड़ी, लेकिन राज्य में जाटवों के अलावा अन्य दलित समुदायों के बहिष्करण की समस्या इसी का फलितार्थ है। दलितों के एक प्रमुख नेता कांशीराम ने उत्तर प्रदेश में बसपा के गठन के दौरान कहा था कि उत्तर प्रदेश



मायावती : दलित राजनीतिक समुदाय की नेता

गंगा और यमुना के बीच का आर्यावर्त राज्य है, यह चमारवर्त (चमार-आधिपत्य राज्य) में परिवर्तित हो जाएगा। चमार ही बसपा के आधार होंगे। बसपा के नेतृत्व में बने दलित राजनीतिक समुदाय पर जाटवों या चमारों के प्रभुत्व का एक बड़ा कारण उग्र के दलित समाज की संरचना में निहित है।

उत्तर प्रदेश में अनुसूचित जातियाँ प्रदेश की कुल जनसंख्या का 21.15 प्रतिशत हैं। 2001 की जनगणना के अनुसार राज्य में 66 दलित जातियाँ हैं। इनमें चमारों की जनसंख्या 53 प्रतिशत है, जबकि अन्य समुदाय, जैसे पासी केवल 16 प्रतिशत, धोबी 6 प्रतिशत और कोरी 6 प्रतिशत हैं। चमार अनुसूचित जाति का 84 प्रतिशत भाग बनाते हैं। उत्तर प्रदेश में पासी चमारों की तुलना में 40 प्रतिशत कम हैं। अन्य 62 दलित समुदाय जो अनुसूचित जातियों के मात्र 16 प्रतिशत हैं, उनके नाम हैं दुसाध 0.7 प्रतिशत, बसोर 0.4 प्रतिशत, धानुक 1.5 प्रतिशत, धारकार 0.3 प्रतिशत, खरवार 0.04 प्रतिशत, कंजर 0.3 प्रतिशत, नट 0.5 प्रतिशत, भुईयार 0.07 प्रतिशत, चैरो 0.1 प्रतिशत इत्यादि। 66 दलित समुदायों में से 9 दलित समुदाय विलुप्त प्रायः हैं। इनकी जनसंख्या 1,816 से लेकर 184 तक है। छोटे-छोटे दलित समुदाय जनतंत्रीकरण की प्रक्रिया से अब भी कोसों दूर हैं। ये दलित समुदाय इसलिए भी बहिष्कृत हैं क्योंकि वोट बैंक की राजनीति में भी ये अपना दबाव नहीं बना सकते। इनकी राजनीतिक सहभागिता भी अत्यंत कम है। राजनीति में प्रतिनिधित्व न होना और इनके समुदायों से किसी बड़े नेता के न उभरने का मुख्य कारण इनमें जागरूकता और शिक्षा की कमी होना है। इन समुदायों से कोई आंगिक (ऑर्गनिक)

नेतृत्व अभी तक नहीं उभरा है। ये समुदाय अब भी सीमांत हैं और अन्य आक्रामक जातियों की भाँति किसी भी अधिकार का लाभ नहीं उठा पा रहे हैं।

जाहिर है कि दलित राजनीतिक समुदाय का यह विरोधाभास विकट है। इससे यह भी पता लगता है कि दलित क्यों एक राजनीतिक समुदाय ही बन कर रह गये हैं और वे क्यों एक सामाजिक समुदाय नहीं बन पाये हैं। लेकिन, दूसरी तरफ यह भी एक तथ्य है कि जाटवों द्वारा अन्य दलित समुदायों की हक़तलाफ़ी करने के बावजूद करीब अस्सी फ़ीसदी के आसपास दलित वोट बसपा के चुनाव निशान हाथी पर ही पड़ते हैं। इस सफलता को बसपा के निर्माण की उस अनूठी प्रक्रिया के आईने में देखा जा सकता है जिसका नेतृत्व सत्तर और अस्सी के दशक में कांशीराम ने किया था।

पंजाब की दलित सिक्ख बिरादरी रामदसिया में पैदा हुए कांशीराम पुणे की एक्सप्लोसिव रिसर्च एंड डिवेलपमेंट लेबोरेटरी में अनुसंधान सहायक की नौकरी करते थे। उन्होंने अपनी राजनीतिक यात्रा 1932 में गाँधी-आम्बेडकर के बीच हुए पुणे समझौते की आलोचना से शुरू की। उन्होंने इस बात को स्पष्टता से रखा कि इससे दलित नेताओं के नाम पर सिर्फ़ चमचों का ही जन्म हुआ। कांशीराम ने राजनीतिक दल बनाने के अपने लक्ष्य को हासिल करने से पहले सरकारी नौकरियों में काम करने वाले दलितों को संगठित करने की कोशिश की। इसके लिए उन्होंने 1978 में नागपुर में कुछ अन्य दलित नेताओं के साथ मिलकर ऑल इण्डिया बैंकवर्ड एंड माइनोंरिटी कम्युनिटीज इम्प्लॉइज़ फ़ेडरेशन (बामसेफ़) का गठन किया। इसका लक्ष्य दलित सरकारी कर्मचारियों को एक बैनर तले इकट्ठा करने का था। बामसेफ़ की कल्पना एक छाया-संगठन या अर्धभूमिगत संगठन के रूप में की गयी थी। इसका नाम स्वयं में एक आवरण था जिसमें बैंकवर्ड और माइनोंरिटी शब्द तो मौजूद थे, लेकिन दलित या अनुसूचित जनजाति जैसे शब्द नहीं थे। व्यवहार में इसका संचालन दलित कर्मचारियों के हाथों में ही था। इसके सदस्यों में से अधिकांश महाराष्ट्र और उत्तर प्रदेश के थे और अनुसूचित जनजातियों से संबंध रखते थे। इस संगठन के शिक्षित कर्मचारियों से यह उम्मीद की जाती थी कि वे उत्पीड़ित समाज के अन्य सदस्यों की मदद करेंगे और इसलिए बहुजन समाज के 'ब्रेन बैंक', 'टैलेंट बैंक' और 'फ़ाइनेंशियल बैंक' बन जाएँगे।

बामसेफ़ की गतिविधियाँ जैसे-जैसे मज़बूत होती गयीं, वैसे-वैसे यह राजनीतिक परियोजना अगले चरण की ओर बढ़ी। बामसेफ़ के सदस्य सरकारी नौकरी में होने के कारण आंदोलनों में या राजनीतिक प्रचार में भागीदारी नहीं कर सकते थे। इसलिए कांशीराम ने 6 दिसम्बर, 1981 को डीएस-फ़ोर नामक संगठन बनाया। इसका पूरा नाम था दलित

शोषित समाज संघर्ष समिति। यह भी बाकायदा राजनीतिक दल नहीं था, लेकिन इसकी गतिविधियाँ काफ़ी कुछ वैसी ही थीं। डीएस-फ़ोर का सबसे बड़ा कार्यक्रम दक्षिण में कन्याकुमारी से शुरू किया गया साइकिल मार्च था। इसी के साथ उसने उत्तर-पूर्व में कोहिमा से, पश्चिम में पोरबंदर से और पूर्व में पुरी से साइकिल यात्राएँ शुरू कीं। ये चारों यात्राएँ सौ दिन तक चलीं। 6 दिसम्बर, 1982 से शुरू होकर यह कार्यक्रम 15 मार्च, 1993 तक चलता रहा। फिर नयी दिल्ली पहुँचकर करीब तीन लाख लोगों की एक विशाल रैली हुई। 1983 की नयी दिल्ली रैली ने कांशीराम के सामने बहुजन समाज आंदोलन के लिए एक राजनीतिक दल की ज़रूरत को साफ़ कर दिया। इस तरह कांशीराम ने 14 अप्रैल 1984 को नयी दिल्ली में बहुजन समाज पार्टी के स्थापना की घोषणा की। इसी साल जून में नयी दिल्ली में पार्टी का पहला राष्ट्रीय अधिवेशन हुआ और इसे चुनाव आयोग में पंजीकृत कराया गया।

बसपा ने अपने गठन के तुरंत बाद 1984 का संसदीय चुनाव लड़ा। इसमें इसे सीटों के संदर्भ में कोई ख़ास सफलता नहीं मिली। लेकिन पूरे देश में इसे 10.05 लाख वोट मिले। 1985 से 1989 के बीच में बसपा ने ख़ास तौर पर उत्तर प्रदेश में अपने पैर जमाने की कोशिश की। इस संदर्भ से इन वर्षों के दौरान हुए तीन प्रमुख उप-चुनाव लड़े। दिसम्बर 1989 में बिजनौर उपचुनाव में बसपा उम्मीदवार मायावती ने उस समय के अनुसूचित जातियों के सबसे बड़े नेता दिवंगत जवजीवन राम की बेटी मीरा कुमार को चुनौती दी। इस चुनाव में मायावती को 61,000 वोट मिले और मीरा कुमार सिर्फ़ पाँच हजार वोटों की मदद से जीत पायीं। हरिद्वार में 1987 में हुए उपचुनाव में बसपा ने फिर मायावती को चुनाव में उतारा। बिहार के दलित नेता रामविलास पासवान भी यहाँ से चुनाव लड़ रहे थे। चुनाव में कांग्रेस उम्मीदवार की जीत हुई, लेकिन जीत का अंतर सिर्फ़ 15 हजार वोट था। मायावती दूसरे स्थान पर रहीं और उन्हें 1,35,225 वोट मिले। तीसरा इलाहाबाद का प्रसिद्ध उपचुनाव था जिसमें सत्ताधारी कांग्रेस के उम्मीदवार को विश्वनाथ प्रताप सिंह ने चुनौती दी थी। वी.पी. सिंह को 23 विपक्षी राजनीतिक दलों का समर्थन था। बसपा की ओर से खुद कांशीराम ने चुनाव लड़ा। उन्हें 71, 586 वोट मिले और वे तीसरे स्थान पर रहे। ये तीनों उपचुनाव काफ़ी महत्वपूर्ण हैं क्योंकि इसमें बसपा के पास अपने विरोधियों की तुलना में बहुत कम संसाधन थे। बसपा ने साइकिल से प्रचार किया और व्यक्तिगत जन-सम्पर्क द्वारा पर दलित मतदाताओं का समर्थन हासिल किया। इससे एक ओर बसपा का आधार पुरखा हुआ, वहीं दूसरी ओर इसने दलितों के भीतर राजनीतिक चेतना भी पैदा की।

देखें : अनुसूचित जातियाँ, अकाली दल, आम्बेडकर-गाँधी विवाद,

कांशी राम, कांग्रेस 'प्रणाली', गैर-कांग्रेसवाद, गठजोड़ राजनीति, जनता दल और उसकी विरासत-1 और 2, तेलुगु देशम पार्टी, पार्टी-गठजोड़ की राजनीति, भारतीय जनता पार्टी-1 और 2, भारत में मतदान-व्यवहार-1, 2, 3, 4, 5 और 6, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस-1 और 2, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), भीमराव रामजी आम्बेडकर, राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठजोड़, वाम मोर्चा, शिव सेना, समाजवादी पार्टी, शिरोमणि अकाली दल, समाजवादी पार्टी, संयुक्त प्रगतिशील गठजोड़।

संदर्भ

1. अभय कुमार दुबे (1997), *कांशी राम : एक आलोचनात्मक अध्ययन*, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.
2. अभय कुमार दुबे (1996), 'ऐनाटॉमी ऑफ़ अ दलित पॉवर प्लेयर', घनश्याम शाह (सम्पा.), *दलित पॉलिटिक्स ऐंड कल्चर*, सेज, नयी दिल्ली.
3. आर.के. सिंह, *कांशी राम और बीएसपी*, कुशवाहा बुक डिस्ट्रीब्यूटर्स, इलाहाबाद.
4. कांशी राम (1998), *द चमचा एज : द एरा ऑफ़ स्टूजिज़*, अनुवाद: रामगोपाल आज़ाद, समता प्रकाशन, नागपुर.
5. बंदी नारायण (2013), 'लोकतंत्र का भिक्षु-गीत : अति-उपेक्षित दलितों के अध्ययन की प्रस्तावना', *प्रतिमान : समय समाज संस्कृति*, खण्ड 1, प्रवेशांक.

— कमल नयन चौबे

बहुजन समाज पार्टी-2

(गठजोड़ों के ज़रिये प्रभुत्व की स्थापना)

(Bahujan Samaj Party-2)

बहुजन समाज पार्टी की राजनीति कांग्रेस या दूसरे राजनीतिक दलों के अनुसूचित जनजातियों के नेताओं की राजनीतिक से काफ़ी अलग क्रिस्म की थी। बसपा ने मंदिर प्रवेश या दलित पैंथरों द्वारा चलाये गये नामांतर (मराठवाड़ा विश्वविद्यालय का नाम बदल कर आम्बेडकर के नाम पर रखने का आंदोलन) सरीखे आंदोलनों की ओर ध्यान नहीं दिया। इसकी बजाय इस पार्टी ने दलील दी कि जिस दिन उसे सत्ता मिल जाएगी, वह ऐसे अनगिनत विश्वविद्यालयों का नामकरण आम्बेडकर के नाम पर कर देगी। कांग्रेस के भीतर दलितों के प्रतिनिधित्व को 'चमचागीरी' का प्रमाण मानते हुए इस पार्टी ने तर्क दिया कि कांग्रेस के दलित नेता दलित-हितों की बजाय ऊँची जाति के अपने आकाओं को खुश करने में लगे रहते हैं। अपने शुरुआती दौर में बसपा ने दलितों, पिछड़ों और धर्म परिवर्तन करके मुसलमान बने अल्पसंख्यकों

को जोड़ने का लक्ष्य रखा। इसके लिए 'जो बहुजन की बात करेगा, वो सत्ता पर राज करेगा' जैसे नारे अपनाये गये। लेकिन दरअसल, इसकी ज्यादा ऊर्जा मुख्य रूप से दलित जातियों को संगठित करने में ही खर्च हुई। इसके अलावा, बसपा ने ज़मीन के मुद्दे को भी गम्भीरता से लेकर नारा दिया कि 'जो ज़मीन सरकारी है, वो ज़मीन हमारी है।'

नब्बे के दशक के बाद से बसपा ने आर्थिक शोषण के बजाय आत्म-सम्मान और अस्मिता के प्रश्नों पर ज्यादा जोर देना शुरू किया। उसने खुलकर विविध दलों से राजनीतिक गठजोड़ किया। उत्तर प्रदेश में बसपा ने समाजवादी पार्टी, भाजपा और कांग्रेस तीनों से किसी-न-किसी समय पर गठजोड़ किये। कांशीराम ने खुल कर खुद को 'अवसरवादी' भी कहा। इससे उनका आशय यह था कि दलितों को अवसर मिले ही कहाँ हैं। इसलिए उन्हें सत्ता प्राप्त करने हर अवसर का उपयोग करने के लिए तैयार रहना चाहिए। बसपा को सबसे पहली बड़ी राजनीतिक कामयाबी 1993 के उत्तर प्रदेश विधानसभा चुनावों में गठजोड़ राजनीति के ज़रिये ही मिली। बसपा ने यह चुनाव मुलायम सिंह यादव की समाजवादी पार्टी के साथ मिल करके लड़ा था। गठजोड़ के पीछे कांशीराम और मुलायम की मिली-जुली दूरदेशी काम कर रही थी। इससे पहले मुलायम सिंह अपने गृह-जनपद इटावा से कांशीराम को उपचुनाव में अपने समर्थन से लोकसभा में पहुँचा चुके थे और इसके आधार पर दोनों पार्टियों और नेताओं में परस्पर विश्वास की स्थिति बन गयी थी। इस चुनाव में सपा-बसपा गठजोड़ ने 178 सीटें जीतीं, जिसमें से बसपा को 69 सीटें मिलीं। यह चुनाव था तो प्रादेशिक लेकिन इसका राष्ट्रीय महत्त्व था। 1991 में कल्याण सिंह के नेतृत्व में भारतीय जनता पार्टी पूर्ण बहुमत से सत्ता में आयी थी। उसकी इस कामयाबी के पीछे अस्सी के मध्य से चल रहा रामजन्मभूमि आंदोलन और उसकी गोलबंदी थी। भाजपा सरकार के कार्यकाल में ही 6 दिसम्बर, 1992 को बाबरी मसजिद तोड़ी गयी जिसके कारण राज्य विधानसभा भंग कर दी गयी और नये चुनावों की घोषणा हुई। भाजपा के नेताओं का दावा था कि अगर 1991 में जीती गयी दो सौ से अधिक सीटों में से एक भी कम हुई तो वे इसे अयोध्या में मसजिद तोड़ कर मनाये गये हिंदू विजय दिवस की विफलता मानेंगे। लेकिन इन दावेदारियों को उस समय मुँह की खानी पड़ी जब बसपा-सपा गठजोड़ ने भाजपा के हाथ से सत्ता छीन ली। इस चुनाव में हुई पराजय के बाद भारतीय जनता पार्टी फिर कभी उत्तर प्रदेश में 1991 वाली सफलता नहीं दोहरा पायी।

मुलायम सिंह यादव प्रदेश के मुख्यमंत्री बने और बसपा भी इस सरकार में शामिल हुई। कांशीराम ने इस समय तक मायावती को बसपा की भावी नेता के रूप पेश करना शुरू कर दिया था। बामसेफ़ के दौर में कांशीराम के साथी बने वरिष्ठ

दलित नेताओं के रूप में अपेक्षाकृत कम तजरुबेकार और युवा मायावती का नेता के रूप में चुनाव बसपा की भावी राजनीतिक सफलताओं के लिए आवश्यक था। कांशीराम को साफ़ दिख रहा था कि अगर उत्तर प्रदेश में दलित राजनीतिक समुदाय की रचना करनी है तो उन्हें बसपा की बागडोर जाटव जाति के किसी नेता के हाथों में देनी होगी। उनके बामसेफ़ वाले दिनों का कोई भी नेता इस बिरादरी से नहीं था। मायावती के चुनाव के पीछे अन्य कारण भी रहे होंगे, पर राजनीतिक कारणों के लिहाज़ से सम्भवतः यह सर्वाधिक उल्लेखनीय कारण था। मायावती को नेता बनाने से बसपा के कई स्थापित नेताओं में क्षोभ भी फैला। पर कांशीराम ने इसकी परवाह नहीं की।

मायावती ने आक्रामक रवैया अपना कर मुलायम सिंह सरकार पर दबाव डालते हुए अपनी पार्टी के हितों को सिद्ध करने वाले कई फैसले करवाये। दोनों पार्टियों के बीच तनाव बढ़ता गया। आखिरकार जून, 1995 में बसपा के समर्थन वापस लेने के कारण सपा की सरकार गिर गयी। मायावती ने सपा के साथ मिल कर जिस भाजपा को पराजित किया था, उसी भाजपा के समर्थन से अपनी सरकार बनायी। भाजपा हर क्रीमत पर मुलायम सिंह यादव की राजनीतिक उड़ान को रोकना चाहती थी, इसलिए उसने मायावती का समर्थन लेकर खुद सरकार बनाने के बजाय उन्हें समर्थन देना स्वीकार कर लिया। इस तरह मायावती उत्तर प्रदेश की पहली दलित महिला मुख्यमंत्री बनीं। उनके शपथ ग्रहण से इस प्रदेश में दलित-अस्मिता की उस राजनीति का आगाज़ हुआ जो आज तक जारी है। बहरहाल, यह सरकार ज़्यादा समय तक नहीं चली। इस दौरान बसपा को कई विभाजनों का भी सामना करना पड़ा। लेकिन इन विभाजनों के बावजूद उप्र के राजनीतिकृत दलित मतदाताओं में मायावती के नेतृत्व में भरोसा दिखाना जारी रखा। इस तरह कांशीराम के बाद बसपा के सबसे ताकतवर नेता के रूप में मायावती स्थापित हो गयीं। इसके बाद बसपा ने 1997 और 2002 में भाजपा के समर्थन से दो बार और अपनी सरकार बनायी। भाजपा ने हर बार मुलायम सिंह को सत्ता में आने से रोकने के लिए बसपा की शर्तें मानीं। यह सही है कि इनमें से कोई भी सरकार अपना कार्यकाल पूरा नहीं कर पायी, लेकिन बार-बार सरकार बनाने और भंग होने की यह प्रक्रिया बसपा के लिए लाभकारी और भाजपा के लिए हानिकारक साबित हुई। इसी दौर में भाजपा के प्रादेशिक नेतृत्व में पिछड़े वर्ग के नेताओं और ब्राह्मण नेताओं के बीच अंतर्विरोध पनपे। घटनाक्रम कुछ इस तरह चला कि पार्टी के केंद्रीय नेतृत्व ने कल्याण सिंह को हाशिये पर डाल दिया जिसके कारण पार्टी के पुराने जमे हुए गैर-यादव पिछड़े जनाधार ने उसका साथ छोड़ दिया। भाजपा सिर्फ़ ऊँची जातियों की पार्टी बन कर तीसरे नम्बर पर खिसक गयी। सपा के साथ बसपा उत्तर प्रदेश की दो मुख्य ताकतों में से एक बन गयी।

नब्बे के दशक के आखिरी वर्षों से बसपा ने बहुजन से सर्वजन की ओर जाने की रणनीति पर गहरायी से विचार करना शुरू कर दिया था। 2007 के विधानसभा चुनावों के पहले उसने इस पर गहरायी से अमल भी शुरू किया। ख़ासतौर, बसपा ने ब्राह्मणों को खुद से जोड़ने की रणनीति अपनायी। इस समय तक उत्तर प्रदेश के ब्राह्मणों के राजनीतिक नेतृत्व का एक हिस्सा सत्ता में हिस्सेदारी से लगातार वंचित रहने के कारण नये गठजोड़ों और निष्ठाओं की तलाश में था। भाजपा अभी भी उसकी स्वाभाविक पार्टी थी, पर यह भी स्पष्ट था कि उसके ज़रिये वह सत्ता नहीं प्राप्त कर सकता। मायावती ने इस परिस्थिति को भाँप कर ब्राह्मणों के राजनीतिकृत हिस्सों के साथ हेल-मेल शुरू किया। यह एक ऐसी राजनीतिक-सामाजिक रणनीति थी जिसका दूरगामी असर हो सकता था। इसी मकसद से बसपा ने कई जगहों पर ब्राह्मणों के साथ मैत्री क्रायम करने के लिए जाति सम्मेलन भी आयोजित किये।

एक तरफ़ ब्राह्मणों और ऊँची जातियों के विभिन्न तत्त्वों के साथ सामाजिक-राजनीतिक मैत्री और दूसरी तरफ़ समाजवादी पार्टी की सरकार में क्रानून-व्यवस्था की गिरती स्थिति को 'गुंडाराज' के रूप में परिभाषित करके बसपा ने सत्ता प्राप्त करने की दोहरी रणनीति बनायी। इसमें मायावती को ऐतिहासिक सफलता मिली। विधानसभा चुनावों में बसपा ने कुल 206 सीटों पर जीत हासिल की। मायावती तीसरी बार राज्य की मुख्यमंत्री बनीं। मुख्यमंत्री के दौर पर उन्होंने पार्कों, मूर्तियों आदि द्वारा दलित-अस्मिता की राजनीति को मज़बूती देने की कोशिश की। लेकिन, दलितों और ग़रीबों की बुनियादी आर्थिक स्थिति में बदलाव लाने वाला कोई संजीदा और दूरगामी कार्यक्रम शुरू नहीं किया। लेकिन फिर भी मायावती का यह शासन क्रानून-व्यवस्था और राज्य की कुल विकास दर के लिहाज़ से, अपने से पहले की सरकार से बेहतर माना जा सकता है। लेकिन यह सफलता नाकाफ़ी साबित हुई। मायावती की सरकार पर भ्रष्टाचार को संस्थागत रूप देने के आरोप लगे। छवि बनी कि मायावती के राज में हर काम कराने की क्रीमत अदा करनी पड़ती है। बाकायदा उसके लिए एक 'विंडो' है जहाँ से 'लिया' जाता है और वहीं से 'काम' यानी सरकारी आदेश मिल जाता है। यह 'वन विंडो क्लियरेंस' मायावती को महँगा पड़ा। 2012 के विधानसभा चुनावों में बसपा को हार का मुँह देखना पड़ा। मायावती के खिलाफ़ व्यापक सत्ता विरोधी रुझान के पीछे भ्रष्टाचार का मुद्दा सबसे ज़्यादा उल्लेखनीय था।

लेकिन बसपा की कुछ स्पष्ट सीमाएँ भी हैं : मसलन, नेतृत्व के स्तर पर मायावती के बाद कोई बड़ा नेता मौजूद नहीं है। यह नेतृत्व के स्तर पर एक बड़ी सीमा है। दूसरा, बसपा दूसरे राज्यों में अपना विस्तार नहीं कर पा रही है। यह मोटे तौर पर उत्तर प्रदेश में केंद्रित पार्टी बन कर रह गयी है।

तीसरा, बसपा ने अस्मिता की राजनीति और प्रतीकों का सहारा लिया है। इससे इसे दलितों के भीतर राजनीतिक चेतना भरने में सफलता भी मिली है। लेकिन यह इससे आगे जाकर ज़मीनी स्तर पर आर्थिक संबंधों में बदलाव लाने वाला कोई कार्यक्रम आगे बढ़ाने में सफल नहीं हो पायी है। यह कहा जा सकता है कि बसपा ने सत्ता की 'गुरु किल्ली' (या चाबियों की चाबी) तो हासिल की लेकिन वह इसका पूरा उपयोग करने में समर्थ नहीं हो पायी। चौथा, अपने शुरुआती दौर में बसपा जिस तरह ज़मीनी स्तर पर साइकिल यात्राओं आदि द्वारा जन सम्पर्क के काम करती थी, बाद के वर्षों में वह बहुत कम हो गया। एक तरह से बसपा पूरी तरह से चुनावी राजनीति पर केंद्रित पार्टी बन गयी और उसका सामाजिक-राजनीतिक आंदोलन वाला रैडिकल रूप खत्म हो गया। दलित बुद्धिजीवियों का एक हिस्सा बसपा की राजनीतिक-शैली को उस दलित प्रोजेक्ट के लिए नुकसानदेह मानता है जिसे आम्बेडकर ने शुरू किया था। गड़बड़ी की शुरुआत वे कांशी राम द्वारा दिये गये 'अपनी-अपनी जाति को मज़बूत करो' के नारे में देखते हैं। उनका कहना है कि यह नारा जाति को खत्म करने के बजाय उसके ध्रुवीकरण का कारक बन गया। इसी तरह 'तिलक, तराजू और तलवार' के खिलाफ संघर्ष करने वाली पार्टी ने ब्राह्मणों को अपनी ओर खींचने के लिए 'हाथी नहीं गणेश है, ब्रह्मा-विष्णु-महेश है' जैसा नारा दिया जिसका परिणाम यह हुआ कि बसपा के मंचों पर भी हवन, जाप, जनेऊ वितरण जैसे कर्मकाण्ड दिखने लगे। इन आलोचकों के मुताबिक दलित सत्ता का नारा कुल मिला कर स्पर्धात्मक जातिगत सत्ता की होड़ में बदल गया है।

इन आलोचनाओं के बावजूद भारतीय राजनीति में बसपा का उभार लोकतंत्र के प्रसार का एक सबूत है। बसपा ने समाज के सबसे दबे-कुचले तबकों में राजनीतिक चेतना भरी है, उन्हें संगठित किया है और भारतीय राजनीतिक परिदृश्य में महत्वपूर्ण बदलाव किया है।

देखें : अनुसूचित जातियाँ, अकाली दल, आम्बेडकर-गाँधी विवाद, कांशी राम, कांग्रेस 'प्रणाली', गैर-कांग्रेसवाद, गठजोड़ राजनीति, जनता दल और उसकी विरासत-1 और 2, तेलुगु देशम पार्टी, पार्टी-गठजोड़ की राजनीति, भारतीय जनता पार्टी-1 और 2, भारत में मतदान-व्यवहार-1, 2, 3, 4, 5 और 6, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस-1 और 2, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), भीमराव रामजी आम्बेडकर, राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठजोड़, वाम मोर्चा, शिव सेना, समाजवादी पार्टी, शिरोमणि अकाली दल, समाजवादी पार्टी, संयुक्त प्रगतिशील गठजोड़।

संदर्भ

1. आर.के. सिंह, कांशी राम और बीएसपी, कुशावाहा बुक डिस्ट्रीब्यूटर्स, इलाहाबाद.

2. अभय कुमार दुबे (2002), 'बहुजन समाज पार्टी और 'गुरु किल्ली' / दलितों के हाथ में राजसत्ता', अभय कुमार दुबे (सम्पा), आधुनिकता के आईने में दलित, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.
3. क्रिस्टोफ़ जैफ़्रलो (1998), 'द बहुजन समाज पार्टी इन नॉर्थ इण्डिया: नो लांगर जस्ट अ दलित पार्टी?', कम्पैरेटिव स्टडी ऑफ़ साउथ एशिया, अफ्रीका एंड द मिडिल ईस्ट, खण्ड 18, अंक 1.

— कमल नयन चौबे

बहुपति विवाह

(Polyandry)

बहुपति विवाह की प्रथा के तहत में एक स्त्री का विवाह दो या अधिक पुरुषों से विवाह होता है। ये पुरुष परस्पर संबंधी (जैसे भाई-भाई) हो सकते हैं और नहीं भी। एक ही समूह के कई व्यक्ति भी मिलकर एक स्त्री से विवाह कर सकते हैं। मातृवंशीय परिवारों में स्त्री अपने पतियों को स्वयं चुनती है और प्रत्येक पति के साथ बारी-बारी रहती है। परंतु जब एक पति के साथ रहती है तो उस दौरान उस पर अन्य पतियों का कोई अधिकार नहीं रहता है। रिवाज़ यह भी है कि एक ही परिवार में सबसे बड़े भाई का दूसरे भाइयों व पतियों की तुलना में स्त्री पर अधिक अधिकार होता है। इस अधिकार को सम्पत्ति व संतानों पर उसके अधिक अधिकार के अंग के रूप में ही समझा जा सकता है।

बहुपति विवाह के कई कारण होते हैं। उनमें से एक प्रमुख कारण है किसी समाज में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या कम होना। इस प्रकार लड़के व लड़कियों की संख्या में असंतुलन पैदा हो जाने से बहुपति विवाह का स्वतः ही चलन हो जाता है। पर यह कारण बहुत महत्वपूर्ण नहीं है क्योंकि तिब्बत, सिक्किम, लद्दाख आदि प्रदेशों में स्त्रियों की संख्या कम न होते हुए भी वहाँ बहुपति विवाह की प्रथा काफ़ी समय से चली आ रही है। निर्धनता को भी इस प्रथा के कारण के रूप में देखा जाता है। जब जीवन अत्यंत कठिन हो, जीविका के साधन अत्यंत सीमित हों और सम्पत्ति का बँटवारा सम्भव न हो तो एक परिवार के कई लोग एक ही स्त्री से विवाह करते हैं। एक पुरुष के लिए विवाह कर पृथक रूप से परिवार की स्थापना करना काफ़ी मुश्किल होता है तथा संयुक्त परिवार तथा सम्मिलित श्रम के बिना इन प्रदेशों में जीवन निर्वाह करना प्रायः असम्भव होता है।

बहुपति विवाह की प्रथा कई जनजातियों व दक्षिण भारत में खासकर केरल के नायरो में पायी जाती थी। पर

परम्परागत हिंदू धर्म-समाज में इसके लिए कोई स्थान नहीं रहा है। यहाँ एक पुरुष के प्रति पत्नी के एकनिष्ठ होकर पतिव्रत धर्म पालन की अपेक्षा की जाती है। महाभारत में पाँच पांडवों से द्रौपदी के विवाह को बहुपति विवाह के रूप में प्रस्तुत किया जाता है पर जैसा कि समाजशास्त्री के.एम. कपाड़िया का मत है कि यह एक भ्रांति है। इस प्रसंग में बहुपति विवाह के लक्षण नहीं हैं। उनके अनुसार द्रौपदी का विवाह मूलतः अर्जुन से हुआ था न कि सभी पांडवों से। घर लौटने पर उन्होंने माता कुंती से द्वार खुलवाने से पहले एक सुंदर भिक्षा लाने की बात कही, जिस पर कुंती ने उसे आपस में बाँट लेने को कहा। बाद में कुंती को अपनी भूल का अनुभव हुआ था। यानी यह प्रसंग बहुपति विवाह के समर्थन में ब्राह्मण संस्कृति के किसी अनुमोदन को नहीं दर्शाता है। हिंदू विवाह एक पुरुष को एकाधिक स्त्रियों से विवाह संबंध बनाने की अनुमति तो देते हैं पर यह छूट स्त्रियों को नहीं दी गयी है। यानी स्त्रियों के लिए सतीत्व का आदर्श ही प्रधान रहा है, हालाँकि व्यवहार में सतीत्व संबंधी धर्मशास्त्रीय मान्यताएँ नकारी भी जाती रही हैं।

भारत में बहुपति विवाह का प्रचलन सीमित इलाकों में रहा है और प्रायः जनजातीय समाजों में रहा है। यह केरल के रियान, कुसम्ब, कोट, नीलगिरी पर्वत के टोडा और देहरादून जिले में जौनसार-बावर की खस जातियों में पाया जाता है। दक्षिण भारत के नायरो में बहुपति विवाह का चलन था पर अब उसमें भी बड़ा परिवर्तन आ चुका है। भारत में बहुपति विवाह के प्रमुखतः दो प्रकार हैं: भ्रातृ बहुपति विवाह तथा अभ्रातृ बहुपति विवाह।

भ्रातृ बहुपति विवाह वह होता है जिसमें कई भाई मिल कर एक ही स्त्री से विवाह करते हैं। इस प्रकार के विवाह नीलगिरी के टोडा तथा जौनसार बावर की खस जनजातियों में प्रचलित रहे हैं। टोडा लोगों में जब एक व्यक्ति का विवाह किसी स्त्री के साथ होता था तो उसके सभी भाई यहाँ तक कि बाद में पैदा होने वाले भाई भी उस स्त्री के पति समझे जाते थे। ये प्रायः सगे भाई या सगोत्रीय भाई होते थे। टोडा जनजाति का अध्ययन करने वाले डब्ल्यू.एच.आर.रिवर्स का कहना है कि पहले के समय भ्रातृ बहुपति विवाह का टोडा लोगों में पूर्णतः चलन न था, बल्कि कई पुरुष जो भाई नहीं होते थे, वे भी एक स्त्री से विवाह कर लेते थे। पत्नी के गर्भवती होने पर आयु में सबसे बड़ा पति पुरसुतपिमि नामक एक संस्कार तीर-धनुष के माध्यम से करता था जिसके आधार पर उसे सामाजिक पितृत्व प्रदान कर दिया जाता था। स्त्री के दूसरी बार गर्भवती होने पर दूसरा पति उसी प्रकार का संस्कार कर दूसरी संतान का पिता बनता था। यह क्रम चलता रहता था। सामाजिक तौर पर पिता बनने यानी सामाजिक पितृत्व के इस संस्कार में यह भी मान्यता थी कि अगर अन्य

पति यह संस्कार नहीं करेंगे तो जो पति यह संस्कार कर चुका है, वही सभी अन्य संतानों का भी पिता माना जाएगा। खस जनजाति के लोगों में जब बड़ा भाई विवाह करता है तो उसकी पत्नी सभी भाइयों की पत्नी मानी जाती है। छोटे भाई अगर बच्चे हैं या उनका विवाहोपरांत जन्म होता है तो वे भी उस स्त्री के पति माने जाते हैं। बड़े भाई का स्त्री पर विशेष अधिकार होता है और वह स्त्री को अन्य छोटे भाइयों से सहवास के लिए मना कर सकता है, सभी संतानों पर अधिकार रख सकता है और झगड़ा होने की नौबत आने पर अन्य भाइयों को विवाह-विच्छेद का आदेश दे सकता है। चूँकि सभी भाइयों को सम्पत्ति का समान हिस्सा नहीं मिलता और बड़े भाई के पास उसका बड़ा हिस्सा चला जाता है, इसलिए बँटवारा लाभदायक नहीं माना जाता है। इस कारण प्रायः प्रयत्न यही होता है कि बँटवारे की किसी भी सम्भावना को टाला जाए तथा परम्पराओं का पालन किया जाए। टोडा व खस जनजातियों में पुरुषों का महत्त्व व अधिकार होने के कारण उनकी बहुपति विवाह प्रथा को पितृसत्तात्मक बहुपति विवाह कहा जाता है।

अभ्रातृ बहुपति विवाह में पतियों का परस्पर भाई होना आवश्यक नहीं होता है। इसमें पति विभिन्न समयों में आकर बारी-बारी से पत्नियों के पास रहते हैं या पत्नी पुरुषों के पास जाती है। यह प्रथा मुख्य रूप से मालाबार यानी केरल के नायरो में पायी जाती है। नायरो में इस प्रथा का चलन बीसवीं सदी के प्रारम्भ तक था और उनके यहाँ मातृवंशीय बहुपति विवाह रही है क्योंकि परिवार की सत्ता मुख्य रूप से स्त्रियों के पास रही है। इन मातृवंशीय परिवारों को तरवड़ के नाम से जाना जाता था। इसमें सामान्य तौर पर किसी एक नायर लड़की का विवाह एकाधिक नम्बूदरी लड़कों से कर दिया जाता था। विवाह के बाद भी लड़की अपने घर पर रहती थी और पतियों को अपने घर आकर रहने की आज्ञा देती थी। ऐसा देखने में भी आता था विवाह के ठीक पश्चात ही नम्बूदरी ब्राह्मण लड़के से विवाह संस्कार के तुरंत बाद या कुछ समय बाद ही उससे नायर पत्नी के संबंध समाप्त हो जाते थे और लड़की अपनी माँ के घर रहते हुए अनेक नायर लड़कों से संबंध रख सकती थी। पति का अधिकार बच्चों या सम्पत्ति पर नहीं रहता था। परिवार का एक बुजुर्ग मुखिया होता था जिसकी देखरेख में सब रहता था। वह कर्णवान कहलाता था और उसकी पत्नी अम्माई कहलाती थी। जब तरवड़ बहुत बड़े आकार का हो जाता था, तब उसे तवाड़ी में विभक्त कर दिया जाता था। एक पति न होने कारण बच्चे के वास्तविक पिता का पता लगाना मुश्किल होता था, इसलिए बच्चे अपनी माँ के वंश से ही जाने जाते थे। माना जाता है कि सामाजिक परिवर्तनों तथा नैतिक भावना के कारण बाद में नायरो में यह प्रथा कमजोर होती चली गयी।

कापड़िया ने केरल की इरावन, कुर्ग तथा नीलगिरी में कोटा जनजातियों में भी बहुपति विवाह की प्रथा का उल्लेख किया है। इरावन जनजाति में प्रथा यह थी कि सबसे बड़ा भाई वधू के घर विवाह के लिए जाता था और उस विवाह समारोह में उस बड़े भाई के छोटे भाई भी एक क्रतार में वधू के दाहिनी तरफ बैठ जाते थे और कुछ वैवाहिक कृत्यों के उपरांत वे सभी भाई स्त्री के सह-पति हो जाते थे। नीलगिरी के टोडा लोगों के पड़ोस में बसी कोटा जनजाति के लोग पूर्णरूप से बहुपति विवाह को तो नहीं अपनाते लेकिन पुरुष के सगे या नातेदारी के भाई उसकी पत्नी के साथ स्वतंत्रतापूर्वक यौन-संबंध रख सकते थे। कोई भी कोटा जनजाति की स्त्री अपने घर में अकेले इस डर से नहीं सोती थी कि कहीं पास-पड़ोस का कोई जादूगर उसे वश में करने के लिए उस पर जादू न कर दे। इसलिए जब उसका पति गाँव के बाहर जाता था तो अपने भाइयों में से किसी को उसके पास सोने के लिए भेज देता था। कोटा लोग संयुक्त परिवार में रहते हैं और उसमें सभी भाइयों के अधिकार समान माने जाते हैं। बहुपति विवाह के कई दुष्परिणामों की तरफ भी समाजशास्त्रियों ने ध्यान आकर्षित किया है। जैसे कि कम संतानोत्पत्ति, स्त्री स्वास्थ्य पर प्रतिकूल असर, पारिवारिक जीवन में ईर्ष्या-द्वेष व कलह तथा बाँझपन जैसी समस्याएँ इस प्रथा के कारण पेश आती हैं।

देखें : अर्थव्यवस्था का समाजशास्त्र, अभिजन, अभिरुचि, आत्महत्या, उन्मूलनवाद, एजेंसी, कर्मकाण्ड, कारागार, गोपनीयता, गृहविहीनता, जादू, जीवन-शैली, टेलरवाद, परम्परा, परस्पर विपरीत द्विभाजन, पितृसत्ता, प्रति-(संस्कृति, विमर्श, इतिहास, वर्चस्व, स्मृति), प्राइवैसी, प्रौद्योगिकी, फुरसत, बचपन, बहुपति प्रथा, बहुपति प्रथा, बुजुर्गियत का समाजशास्त्र, बेगानगी, भीड़, भ्रष्टाचार का समाजशास्त्र-1 और 2, सेवानिवृत्ति, विचलन, ज्ञान का समाजशास्त्र।

संदर्भ

1. के.एम.कापड़िया (1966), *मैरिज ऐंड फैमिली इन इण्डिया*, ऑक्सफर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
2. मनीष कुमार और पलाश चंद्र कुमार (1987), *पोलिगैमी इन इण्डिया- डेमाॅग्राफिक, इकनॉमिक, सोशल, रिलीजस ऐंड साइकोलॉजिकल कानक्रोमिटेंट्स ऑफ प्लूरल मैरिजेस इन वुमॅन*, ज्ञान पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.
3. पी.पीटर (1963), *अ स्टडी ऑफ पोलिगैमी*, मॉन्टन ऐंड कम्पनी, पेरिस.
5. सर्वदमन सिंह (1978), *पोलिगैमी इन एंशिअंट इण्डिया*, मोतीलाल बनारसी दास, नयी दिल्ली.

— वैभव सिंह

बहुपत्नी-प्रथा

(Polygamy)

पुरुष द्वारा एक से अधिक स्त्रियों से शादी करने के चलन को बहुपत्नी-प्रथा की संज्ञा दी जाती है। बहुपत्नी-प्रथा के पीछे कई कारण रहे हैं। लगभग सभी समाजों में वंश चलाने और सामाजिक-धार्मिक कर्तव्य पूरा करने के लिए पुत्र की आवश्यकता मानी जाती रही है। इसलिए पुत्र के जन्म न लेने पर या आत्मरक्षा और सम्पत्ति के लिए कई पुत्र पैदा करने के लोभ में कई विवाह किये जाते थे। इसके अलावा कई विवाह करना पुरुषों के लिए सामाजिक प्रतिष्ठा का भी प्रतीक था, खासकर मध्यकाल में। इससे अपने कुनबे के आकार को बड़ा दिखाने, अधिक शक्तिसम्पन्नता और व्यापक नातेदारी वाले परिवार से मिलने वाली प्रतिष्ठा भोगी जा सकती थी। कोई व्यापारी, सामंत या राजा कई विवाह करके अपने राजनीतिक-सामाजिक संबंधों का और विस्तार कर सकता था। मध्यकाल के राजा दूर-दूर के राजाओं की बेटियों से विवाह करते थे ताकि उनमें आपस में युद्ध न हों और युद्ध की अवस्था में वे एक-दूसरे की सहायता कर सकें। बहुपत्नी विवाह का संबंध श्रम व धनोपार्जन से भी रहा है। अधिक विवाह होने से श्रमिकों के रूप में स्त्रियाँ मिल जाती थीं जो अधिक संतानें पैदा कर और अधिक श्रम उपलब्ध करा सकती थीं।

प्राचीन यहूदी समाज में भी कई विवाह करना आम बात थी। भारत में भाई शादीशुदा होने के बावजूद बड़े भाई के निधन के बाद उसकी विधवा से विवाह को प्राथमिकता दी जाती रही है। इस्लाम में चार शादियाँ करने को धार्मिक और क़ानूनी मान्यता मिली हुई है। लेकिन इस्लाम के विपरीत ईसाई धर्म में बहुपत्नी विवाह का पूरी तरह से निषेध है। उत्तर और मध्य भारत की कई जनजातियों में भी यह विवाह प्रथा पायी जाती है। विश्व के भी कई भागों में इस प्रथा का चलन रहा है। अफ्रीका में यह सबसे अधिक रही है। इस प्रथा के अंतर्गत बहनों द्वारा एक ही पुरुष से विवाह भी किये जाते थे। इसमें सबसे बड़ी बहन विवाह करती थी और अन्य बहनें बाद में सह-पत्नियाँ बन जाती थीं। यह प्रथा उत्तरी अमेरिका की जनजातियों में काफ़ी प्रचलित थी। माना जाता था कि इससे स्त्रियों को सामाजिक-पारिवारिक जीवन में सहायता मिलती थी क्योंकि वे आपस में बहनें होती थीं। उनके मध्य अधिकार और सम्पत्ति संबंधी विवाद भी नहीं होते थे।

ऐतिहासिक तथ्य संकेत करते हैं कि मुसलमानों में कई विवाह करने की यह प्रथा मुख्य रूप से अमीरों, नवाबों और रंग-रुतबे वाले मुसलमानों तक सीमित रही है। कहा जाता है कि इस्लाम ने अधिकतम चार विवाह करने की अनुमति देकर

मुसलमान समाज में स्त्रियों की स्थिति में एक प्रकार से सुधारवादी हस्तक्षेप किया था। जो व्यक्ति एक से अधिक विवाह करता है, उसे सभी पत्नियों के साथ दयालुता व सम्मान से भरा व्यवहार करने और सभी को समान समझने का धार्मिक दायित्व भी दिया गया है। लेकिन तुर्की जैसे देश भी हैं जहाँ मुसलमान बहुलता के बावजूद 1926 के तुर्किस सिविल कोड के तहत किसी भी क्रिस्म के बहुपत्नी विवाह पर क्रानूनन प्रतिबंध है। दूसरी तरफ, तुर्की के भी दक्षिण-पूर्वी कुर्द इलाक़े में शरीयत के अनुरूप एक से अधिक पत्नियाँ रखने की परम्परा है। दूसरी पत्नियों से धार्मिक और सांस्कृतिक संस्कारों के अनुरूप विवाह किया जाता है और उन्हें कोई क्रानूनी संरक्षण और अधिकार नहीं मिलते।

प्राचीन हिंदू धर्मशास्त्रों में ऐसे विवाह की अनुमति खास परिस्थितियों में दी गयी है। यानी बहुपत्नी विवाह के साथ कई सामाजिक और धार्मिक शर्तें जोड़ी गयी हैं। मनुस्मृति में मनु का निर्देश है : बाँझ पत्नी के स्थान पर आठवें वर्ष और जिस पत्नी की संतान जीवित नहीं रहती उसके स्थान पर ग्यारहवें वर्ष और जिसने केवल पुत्रियों को जन्म दिया हो उसके स्थान पर बारहवें वर्ष दूसरी स्त्री को पत्नी के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। मनु ने यह भी लिखा है कि जो पत्नी मद्यपान करती हो, दुराचारिणी हो, अपव्ययी हो अथवा क्रूर हो, उसे त्याग देना ही उचित है। शास्त्र में कई अन्य कारणों, जैसे शूद्र से व्यभिचार आदि, कारणों से भी पत्नी - याग और पुरुष द्वारा पुनर्विवाह करने की अनुमति दी गयी है। पर शास्त्रों के अनुमोदन के बावजूद अगर धनी वर्गों को छोड़ दें तो समाज में प्रायः एक विवाह प्रथा का ही चलन रहा है। 1955 के हिंदू विवाह अधिनियम के अंतर्गत बहुपत्नी विवाह को पूरी तरह से ग़ैरक्रानूनी करार दे दिया गया है। बहुपत्नी-प्रथा का विवेचन करते हुए के.एम. कपाड़िया ने अपनी पुस्तक *मैरिज ऐंड फ़ैमिली इन इण्डिया* में लिखा है : संस्कार संबंधी कृत्यों में चार पत्नियों को मान्यता प्रदान की गयी है और उनकी स्थिति परिभाषित करने के लिए अलग-अलग शब्दों के प्रयोग किये गये हैं। ये पत्नियाँ महिषी (मुख्य पत्नी), परिवृति (प्रभावशाली), वक्ता (व्यक्तिगत रूप से प्रिय) और पालागली (पालागल अर्थात् दरबार के सबसे निम्न अधिकारी की पुत्री) के नाम से जानी जाती थीं।

हिंदुओं में कुलीन विवाह का संबंध भी बहुपत्नी-प्रथा से था। कुलीन विवाह में अपने से उच्च जाति के लड़कों से विवाह करने को प्राथमिकता दी जाती थी। इस विवाह में लड़की की जातिगत स्थिति लड़के से निम्न मानी जाती थी। उच्च कुल में विवाह योग्य पुरुषों की संख्या में कमी के कारण पुरुषों को कई विवाह करने के अवसर मिल जाते थे। कुलीन विवाह में दहेज भी काफ़ी मात्रा में लड़के व उसके परिवार को दिया जाता था। इसलिए दहेज के लोभ में भी

स्वयं को उच्च और कुलीन मानने वाले लड़के कई विवाह करते थे। कई क्षेत्रों में इसके अलग-अलग नाम थे। जैसे मिथिला क्षेत्र में इस तरह का विवाह करने वाले ब्राह्मणों को बिकौआ कहा जाता था। यानी जो अपने उच्च ब्राह्मणत्व का सौदा करता है। हिंदी के कुछ उपन्यासों जैसे नागार्जुन की रचना *रतिनाथ की चाची* में इस तरह के कुलीन विवाह के प्रसंग मिलते हैं।

बहुपत्नी विवाह का रूप सभी समाजों में समान नहीं है। कुछ संस्कृतियों में बहुपत्नी विवाह पर किसी प्रकार का प्रतिबंध नहीं था और इसी कारण इसे अप्रतिबंधित कहा जाता था। जिन समाजों में ऐसे विवाह कुछ शर्तों के साथ होते थे वहाँ इसे सशर्त बहुपत्नी विवाह की संज्ञा दी जाती है। इसी के अंतर्गत एकपक्षीय बहुपत्नी विवाह प्रथा का भी पालन किया जाता है जिसमें उन्हीं स्त्रियों से कोई पुरुष एकाधिक विवाह कर सकता है जो परस्पर बहनें हों।

बहुपत्नी विवाह का लाभ यह माना जाता है कि इससे स्त्रियों को सम्पन्न और शक्तिशाली पुरुषों से, जो संख्या में समाज में कम होते हैं, विवाह करने का मौका मिलता है। पुरुषों के कामाचार को वैधानिक ढंग से व्यक्त होने देने और वेश्यावृत्ति को रोकने में भी इसका महत्त्व स्वीकारा जाता है। एकपत्नी विवाह के तहत पुरुष तकनीकी व सार्वजनिक रूप से एक स्त्री के प्रति वफ़ादार दिखता है पर वह वास्तव में रखैल रखने, वेश्यावृत्ति करने या गुप्त प्रेम प्रसंगों के माध्यम से बहुपत्नी प्रथा के अनुरूप आचरण कर रहा होता है। लेकिन बहुपत्नी विवाह के दोषों का पलड़ा बहुत भारी है। उनमें सबसे प्रधान यह है कि इससे समाज में स्त्रियों की स्थिति, अधिकार और सम्मान में गिरावट आ जाती है। वे मुख्य पुरुष के अधीन रहती हैं और पुरुष को कई विवाह की अनुमति के कारण कभी भी अपनी स्त्रियों का त्याग कर सकते हैं। बाँझ होने, पुत्र न पैदा कर सकने या आचरण संबंधी संदेहों के आधार पर उनका उत्पीड़न हो सकता है और उन्हें त्यागे जा सकने की बात पुराने ग्रंथों में भी लिखी है। स्त्रियों के व्यक्तित्व के विकास में भी रुकावट आती है क्योंकि उन्हें लगातार पुरुष की गुलामी में रहना पड़ता है। स्त्रियाँ व संतानें अधिक होने से परिवार के संसाधनों पर दबाव पड़ता है। एक ही व्यक्ति की सौ या अधिक संतानें भी होती थीं और उनमें से अधिकांश के नाम तक पिता को याद नहीं रहते थे।

इन्हीं कारणों से धर्मग्रंथों और शास्त्रों में इसकी अनुमति होने के बावजूद लोग आम तौर पर एक विवाह ही करते थे। पुरुष द्वारा कई विवाह करने से परिवार की संरचना में अन्य संकट भी उत्पन्न होते हैं। जैसे कि परिवार में ईर्ष्या, द्वेष, कलह, मनमुटाव आदि का वातावरण रहता है। इसके

अलावा स्त्री-पुरुषों में कई यौन व मानसिक विकृतियाँ भी उत्पन्न हो सकती हैं। इतिहास में भाइयों के बीच उत्तराधिकार, राजपाट और धनदौलत के लिए खूनी संघर्ष देखने को मिले हैं। उन मामलों में ये संघर्ष अधिक हुए हैं जहाँ राजा की कई पत्नियाँ होती थीं और बाद में उनकी संतानें राजपाट हासिल करने के लिए संघर्ष करती थीं।

देखें : अर्थव्यवस्था का समाजशास्त्र, अभिजन, अभिरुचि, आत्महत्या, उन्मूलनवाद, एजेंसी, कर्मकाण्ड, कारागार, गोपनीयता, गृहविहीनता, जादू, जीवन-शैली, टेलरवाद, परम्परा, परस्पर विपरीत द्विभाजन, प्रति- (संस्कृति, विमर्श, इतिहास, वर्चस्व, स्मृति), प्राइव्हेसी, प्रौद्योगिकी, प्रारम्भिक इस्लाम, फुरसत, बचपन, बहुपत्नी प्रथा, बहुपति प्रथा, बुजुर्गियत का समाजशास्त्र, बेगानगी, भारतीय इस्लाम, भीड़, भ्रष्टाचार का समाजशास्त्र-1 और 2, सेवानिवृत्ति, विचलन, हज़रत मोहम्मद-1 और 2, ज्ञान का समाजशास्त्र।

संदर्भ

1. के.एम. कपाडिया (1966), *मैरिज एंड फ़ैमिली इन इण्डिया*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.
2. प्रकाशचंद्र मेहता (2005), *मैरिजिज़ इन इण्डियन सोसाइटी*, डिसकवरी पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.
3. आर. मुकर्जी (1969), *फ़ैमिली इन इण्डिया, अ पर्सपेक्टिव*, इण्डियन स्टेटिस्टिकल इंस्टीट्यूट, कोलकाता.
4. वार्नर एफ. मेंस्की (2001), *मॉडर्न इण्डियन फ़ैमिली लॉ*, कर्जन प्रेस, लंदन.
5. जान केयर्नक्रास (1974), *आफ़्टर पॉलिगैमी वाज़ मेड अ सिन : द सोशल हिस्ट्री ऑफ़ क्रिश्चियन पॉलिगैमी*, रॉटलेज एंड केगन पाल, लंदन.
6. केसिया अली (2010), *मैरिज एंड स्लेवरी इन अर्ली इस्लाम*, हार्वर्ड युनिवर्सिटी प्रेस.

— वैभव सिंह

बहुराष्ट्रीय निगम

(Multinational Corporation)

दुनिया के किसी भी हिस्से में रहने वाले लोगों की जिंदगी सुबह बिस्तर से उठने से लेकर रात में बिस्तर पर जाने तक हर पल बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा बनाये गये उत्पादों के इस्तेमाल पर निर्भर रहती है। भारत में जब हम सवेरे सो कर उठते हैं तो हमारी पहली चाय का प्याला या तो ब्रुकब्रान्ड का होता है, या लिप्टन का, या फिर टाटा का जो एक भारतीय मूल की बहुराष्ट्रीय कम्पनी है। फिर अपने दाँत साफ़ करने के लिए हम जिस पेस्ट और टूथब्रुश का

इस्तेमाल करते हैं, वे भी लाजमी तौर से किसी न किसी बहुराष्ट्रीय कम्पनी द्वारा उत्पादित ही होते हैं। पूरी सम्भावना रहती है कि हमारे टीवी, सेलफोन, म्यूज़िक सिस्टम, कम्प्यूटर, घर में काम आने वाले साधारण से उपकरण, पहनने-बिछाने वाले कपड़े, पैरों के जूते, पेय पदार्थ (यहाँ तक कि पेयजल भी), धूम्रपान के लिए सिगरेट, आवागमन के लिए कार, लिखने के लिए कलम, मैथुन करने के लिए गर्भ-निरोधक और न जाने क्या-क्या अर्थात् तकरीबन सभी चीज़ें किसी न किसी बहुराष्ट्रीय कम्पनी की ही देन हों। हाल ही में इस सूची में बैंकों और बीमा कम्पनियों का नाम भी जुड़ गया है। जल्दी ही रोज़ पढ़े जाने वाले अख़बार भी किसी न किसी बहुराष्ट्रीय मीडिया कम्पनी द्वारा प्रकाशित किये जाने वाले होंगे। हो सकता है कि आगे चल कर हमारे अस्पताल भी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा चलाये जाने लगे। कुल मिला कर जीवन के हर क्षेत्र में ये कम्पनियाँ प्रभावी हो चुकी हैं। वे हमारे आचार-व्यवहार, सोच-विचार, खान-पान और अन्य सांस्कृतिक अभिरुचियों को अपने एजेंडे के मुताबिक बदलने की कोशिश करती हैं। लेकिन, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का यह रुतबा केवल हमारी निजी जीवन-शैली को ही नियंत्रित नहीं करता, बल्कि वह हमारी राजनीति, अर्थनीति और हमारी राष्ट्रीय नीतियों और प्रभुसत्ता को भी अपने एजेंडे के मुताबिक बदलता है।

मल्टीनेशनल कम्पनी (एमएनसी) या ट्रांसनेशनल कम्पनी (टीएनसी) के नाम से चर्चित ये शक्तिशाली संस्थाएँ राष्ट्रीय सीमाओं को नज़रअंदाज़ करती हुई दुनिया को एक आर्थिक इकाई के रूप में देखती हैं। ग्लोबल अर्थव्यवस्था की लगाम उन्हीं के हाथों में रहती है। विश्व के सबसे बड़े पाँच सौ बहुराष्ट्रीय निगमों का विश्व-व्यापार के दो-तिहाई हिस्से पर क़ब्ज़ा है और यह व्यापारिक लेन-देन उनकी सहायक फ़र्मों के बीच चलता है। दुनिया के समग्र प्रत्यक्ष विदेशी निवेश का एक-तिहाई सबसे बड़े सौ निगमों द्वारा किया गया है। आँकड़े बताते हैं कि अकेले आईटोकू कारपोरेशन की बिक्री ऑस्ट्रिया के कुल घरेलू उत्पाद से अधिक है। इसी तरह रॉयल डच/शेल कारपोरेशन की बिक्री ईरान के कुल घरेलू उत्पाद से ज्यादा है। अगर मित्सुई और जनरल मोटर्स की बिक्री को जोड़ लिया जाए तो वह डेनमार्क, पुर्तगाल और तुर्की के सकल घरेलू उत्पाद को भी पार कर जाएगी। सब-सहारा अफ़्रीका के सारे देश तो उससे बहुत पीछे छूट जाएँगे। सारी दुनिया में करीब 53,000 बहुराष्ट्रीय निगम हैं जिनकी 4,50,000 सहायक कम्पनियाँ सक्रिय हैं। ज्यादातर बड़े बहुराष्ट्रीय निगमों के मुख्यालय उत्तरी अमेरिका, जापान और पश्चिमी युरोप में स्थित हैं। पिछले दो दशकों से तीसरी दुनिया के विकासशील कहे जाने वाले देशों की बड़ी कम्पनियाँ भी कुछ क्षेत्रों में बहुराष्ट्रीय स्वरूप धारण करने लगी हैं।

बहुराष्ट्रीय निगम एक भ्रमोत्पादक अभिव्यक्ति भी है। इसका मतलब यह क़तई नहीं है कि इन कम्पनियों के प्रबंधन और शेयर-पूँजी के स्वामित्व का अंतर्राष्ट्रीयकरण हो चुका है। इन निगमों की ज्यादातर गतिविधियाँ राष्ट्रों के बीच न हो कर किसी न किसी राष्ट्र की भू-क्षेत्रीय सीमाओं भीतर ही चलती हैं। ज्यादातर बहुराष्ट्रीय निगम क़ानूनी रूप से अमेरिका, जापान, दक्षिण कोरिया और युरोपीय देशों की कम्पनियाँ हैं। इन्हें बहुराष्ट्रीय कहा ज़रूर जाता है, पर इनका चरित्र ग्लोबल पैमाने पर व्यापार करने वाले विशाल उद्यमों जैसा है। तकनीकी रूप से एक बहुराष्ट्रीय कम्पनी एक पब्लिक कम्पनी हो सकती है और उसके शेयर व्यक्तियों, बैंकों, बीमा कम्पनियों और पेंशन फ़ंडों के पास हो सकते हैं। वह एक निजी या घराना नियंत्रित कम्पनी भी हो सकती है और उस सूरत में उसके शेयर सार्वजनिक बिक्री के लिए उपलब्ध नहीं होंगे। इतिहास के लिहाज़ से देखें तो तीन सौ साल पहले औपनिवेशिक विस्तार के दिनों में हडसन बे कम्पनी और ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी का कामकाज भी कुछ इसी क्रिस्म का था। अट्ठारहवीं सदी के बाद से औद्योगिक क्रांति, प्रौद्योगिकी, संचार और प्रबंधन की विधियों में हुए विकास ने इनका चरित्र पूरी तरह से बदल दिया है। उदाहरण के लिए बीसवीं सदी के एकदम शुरुआत में हेनरी फ़र्ड द्वारा ईजाद की गयी नयी कार-प्रोडक्शन लाइन के कारण उनकी कम्पनी साल भर में बनने वाली कारों की संख्या काफ़ी बढ़ाने में कामयाब रही। नतीजा यह निकला कि दस साल के भीतर-भीतर फ़र्ड कार कम्पनी दुनिया भर में उभरते हुए कार उद्योग की प्रमुख खिलाड़ी बन गयी। ऐसी ही बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के हाथ में विश्व अर्थव्यवस्था का लगाम 1944 में आयी जब ब्रेटन वुड्स कांफ़्रेंस ने अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक निज़ाम की स्थापना की जिसका आधारभूत उसूल मुक्त व्यापार था। इसी के बाद बहुराष्ट्रीय निगमों ने बहुत पड़े पैमाने पर अपनी व्यापारिक गतिविधियाँ चलानी शुरू कीं। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद अमेरिका की महाशक्ति के रूप में हैसियत और अमेरिकी डॉलर की ताक़त ने इस विकास-क्रम में मुख्य भूमिका अदा की।

अमेरिकी प्रभुत्व के कारण पहले वहाँ की बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को आगे बढ़ने का ज़्यादा मौक़ा मिला। 1965 तक वे विदेशी निवेश में आगे रहीं। लेकिन इसके बाद युरोपीय और जापानी कारपोरेशनों ने उनके साथ जम कर प्रतियोगिता करनी शुरू कर दी। अस्सी के दशक के मध्य से इन कम्पनियों ने कम उद्योगीकृत देशों में अपना निवेश बढ़ाया जिनकी अर्थव्यवस्थाएँ निवेश-अंतराल की समस्या से जूझ रही थीं। क़र्ज से दबे होने के कारण उन्हें उत्तरोत्तर विदेशी मुद्रा की सख़्त ज़रूरत थी। इसलिए इन देशों को अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सलाहों के मुताबिक़ ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम लागू करने पड़े, निजी पूँजी को ज़्यादा छूट देनी पड़ी और अपने-अपने पब्लिक सेक्टरों का औने-पौने दामों में

निजीकरण करना पड़ा। समाजवाद और आत्मनिर्भर विकास के मॉडल का आकर्षण कमज़ोर हो जाने के कारण ये देश इन कम्पनियों की तरफ़ आशा भरी निगाहों से देखने लगे। इस परिस्थिति का फ़ायदा उठा कर बहुराष्ट्रीय निगमों के तरफ़दारों ने उन्हें आधुनिकीकरण और समृद्धि के वाहक के रूप में पेश करना शुरू किया। कहा जाने लगा कि एमएनसी का मतलब है उन्नत प्रौद्योगिकी, विदेशी पूँजी का निवेश और कौशलपूर्ण रोज़गारों में बढ़ोतरी। ब्रेटन वुड्स संस्थाओं ने भी ग्लोबल क्षितिज पर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का चित्रण ग़रीब देशों की राष्ट्रीय प्रगति की चालक-शक्ति के रूप में करना शुरू किया।

लेकिन, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का एक दूसरा चेहरा भी है। उनकी राजनीति बेहद विवादास्पद है। उन पर कई निर्वाचित सरकारों का तख़्ता पलटने की साज़िश में सक्रिय भाग लेने और मुख्य भूमिका अदा करने का आरोप है। उनके ऊपर अंतर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय क़ानूनों का उल्लंघन करते हुए ग़ैरक़ानूनी गतिविधियाँ करने, मानवाधिकारों की अनदेखी करने, अविकसित देशों की अर्थव्यवस्थाओं का शोषण करने और मुनाफ़ा कमाने के लिए पर्यावरण की बलि चढ़ाने का इलज़ाम भी है। समझा जाता है कि सत्तर के दशक में इंटरनेशनल टेलिफ़ोन ऐंड टेलिग्राफ़ (आईटीटी) और एनाकोंडा कोपर जैसी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने अमेरिकी ख़ुफ़िया संस्था सीआईए की मदद से चिली में सल्वाडोर अलेंदे की लोकतांत्रिक ढंग से चुनी गयी सरकार को पलट दिया। अलेंदे समाजवादी एजेंडे पर चलते हुए इन कम्पनियों की सम्पदा का राष्ट्रीयकरण करना चाहते थे। भारत में यूनियन कारबाइड नामक अमेरिकी बहुराष्ट्रीय कम्पनी के कारख़ाने से रिसी ज़हरीली गैस ने भोपाल में करीब चार हज़ार लोगों की जान ले ली और करीब पाँच लाख लोगों को जीवन भर के लिए बीमार कर दिया। दक्षिण अफ़्रीका में रंगभेदी सरकार का जिस समय सारी दुनिया बहिष्कार कर रही थी, उस समय भी रॉयल डच/शेल कारपोरेशन नामक मल्टीनेशनल रंगभेदी सरकार से अपने व्यावसायिक रिश्ते तोड़ने के लिए तैयार नहीं हुई। बीएचपी नामक बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा न्यू गिनी में किये जाने वाले खनन के परिणामस्वरूप वहाँ की नदी प्रणाली को ज़बरदस्त क्षति पहुँची है। परिणामस्वरूप उस इलाक़े के निवासियों की ज़िंदगी पूरी तरह बदल गयी है।

बहुराष्ट्रीय निगमों के आलोचकों ने कई पहलुओं से उन्हें आड़े हाथों लिया है। इनमें पहला है एक कम्पनी के भीतर होने वाले व्यापार में ट्रांसफ़र प्राइसिंग की परिघटना। ट्रांसफ़र प्राइसिंग के ज़रिये बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ आय कर और विभिन्न वाणिज्य करों से बच जाती हैं। उन देशों के कर क़ानूनों को धोखा देना इनके लिए आसान हो जाता है। जिस देश में टैक्स अधिक होता है, वहाँ से माल अपनी सहायक

कम्पनी को दूसरे देश में (जहाँ कर की दर कम होती है) ऊँचे दामों पर बेचना दिखा दिया जाता है। सत्तर के दशक में दवा बनाने वाली बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने लातीनी अमेरिका की अपनी शाखाओं को ज्यादा कीमत पर अपनी दवाओं का निर्यात किया जिससे उन देशों में जीवन-रक्षक दवाएँ महँगी हो गयीं। दूसरा मुद्दा है किसी देश के अंदरूनी मामलों में दखलअंदाजी का। 1954 में अमेरिकी ने गुआटेमाला पर केवल इसलिए हमला कर दिया था कि उसकी सरकार यूनाइटेड फ्रुट कम्पनी की बेकार पड़ी हुई ज़मीन मुआवज़े और ब्याज की अदायगी करके अधिग्रहीत कर लेना चाहती थी ताकि उसे किसानों में वितरित किया जा सके। चिली में भी चुनावों के दौरान आईटीटी ने सीआईए को दस लाख डॉलर देने की पेशकश की थी ताकि अलेंदे के खिलाफ़ चुनावी अभियान चलाया जा सके। सीआईए ने यह पेशकश तो नहीं मानी, पर ऐनाकोंडा का मिलिक्यत वाली ताँबे की खानों के राष्ट्रीयकरण के बाद अमेरिकी सरकार ने आईटीटी के हितों के मुताबिक़ अलेंदे की सरकार को गिराने की हर सम्भव कोशिश शुरू कर दी।

इसमें कोई शक नहीं कि कई विकासशील देशों में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने अस्पतालों, स्कूलों और उपयोगी अधिरचनात्मक सुविधाओं की स्थापना में योगदान किया है। उनके कारण रोज़गार, प्रशिक्षण और शैक्षिक अवसरों में वृद्धि हुई है। लेकिन उसका दूसरा पक्ष यह भी है कि बहुराष्ट्रीय कम्पनियों ने इन विकासशील देशों में अपने लाभ के लिए स्थानीय संस्कृति और पर्यावरण को नष्ट किया है। ये कम्पनियाँ बच्चों से श्रम कराने के लिए भी कुख्यात रही हैं।

देखें : अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम, पेटेंट, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, भूमण्डलीकरण : भारतीय अर्थव्यवस्था का, भारत में पेटेंट कानून, भारत में बहुराष्ट्रीय निगम, भारत में शेरर संस्कृति, भूमण्डलीकरण, भूमण्डलीकरण का इतिहास-1 और 2, भूमण्डलीकरण और बेरोज़गारी, भूमण्डलीकरण और गरीबी, भूमण्डलीकरण और पूँजी बाज़ार, भूमण्डलीकरण और लोकतंत्र, भूमण्डलीकरण और राज्य, भूमण्डलीकरण और राष्ट्रीय सम्प्रभुता, भूमण्डलीकरण और वित्तीय पूँजी, भूमण्डलीकरण और वित्तीय उपकरण, भूमण्डलीकरण के आलोचक, भूमण्डलीकरण के खिलाफ़ प्रतिरोध, विश्व बैंक, विश्व व्यापार संगठन।

संदर्भ

1. दिलीप एस. स्वामी (1980), *मल्टीनेशनल कारपोरेशंस ऐंड वर्ल्ड इकॉनॉमी*, एल्प्स पब्लिशर्स, नयी दिल्ली.
2. आर.जे. बारनेट और आर.एम. मुलर (1975), *ग्लोबल रीच : पावर ऑफ़ मल्टीनेशनल कारपोरेशंस*, जोनाथन कैप, लंदन.
3. सोम देव (1986), *मल्टीनेशनल कारपोरेशंस ऐंड द थर्ड वर्ल्ड*, आशीष पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.
4. जेड ग्रिअर और कवलजीत सिंह (1996), *टीएनसीज़ ऐंड इण्डिया*, पब्लिक इंटेरेस्ट रिसर्च ग्रुप, नयी दिल्ली.

—अभय कुमार दुबे

बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक

(Majority-Minority)

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 29 और 30 के तहत विभिन्न समूहों को अपने हितों की रक्षा के लिए और ख़ास तौर से अपनी शिक्षा संस्थाएँ चलाने के लिए विशेष अधिकारों का प्रावधान किया गया है। प्रचलित भाषा में इन समूह-अधिकारों को अल्पसंख्यक अधिकारों के रूप में जाना जाता है। 1950 में संविधान-रचना के समय तक राजनीति पर अल्पसंख्यक-बहुसंख्यक के मुहावरे का बोलबाला हो चुका था। संविधान सभा ने भी अल्पसंख्यकों के हितों पर ग़ौर करने के लिए एक विशेष उप-समिति गठित की थी जिसके अधिकतर सदस्य स्थाई अल्पसंख्यक समुदायों के लिए विशेष सुरक्षा के उपाय करने के सवाल पर सहमत थे। इस लिहाज़ से कहा जा सकता है कि बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक ढाँचा भारतीय संविधान की बुनियादी संरचनाओं में से एक है।

यह संकल्पना मान कर चलती है कि हमारी राजनीति और समाज की रचना स्थाई अल्पसंख्यक समुदायों और स्थाई बहुसंख्यक समुदायों से मिल कर हुई है। संविधान द्वारा अपनाये गये इस आधार की आलोचना मुख्यतः इस आधार पर होती है कि इसके कारण बहुसंख्यकवाद और अल्पसंख्यकवाद का खतरा अनिवार्य तौर पर पैदा होगा। चूँकि आधुनिकता और आधुनिकीकरण की प्रक्रिया समाज को समरूपता की तरफ़ ले जाती है, इसलिए इसके तहत बहुसंख्यक समाज के सांस्कृतिक मूल्य और प्राथमिकताएँ स्वाभाविक रूप से हावी हो जाएँगे। प्रतिक्रिया में अल्पसंख्यकों द्वारा न केवल इसका प्रतिरोध होगा, बल्कि कई बार वे आधुनिकता विरोधी रवैया अपना कर अपने सांस्कृतिक-धार्मिक अतीत में लौटते नज़र आयेंगे। ऐसा लगेगा कि वे संविधानप्रदत्त अधिकारों का उपयोग अपने आधुनिकीकरण और सामाजिक प्रगति के लिए करने के बजाय स्वयं को ग़ैर-आधुनिक बनाये रखने के लिए कर रहे हैं। नतीजा यह निकलेगा कि बहुसंख्यक अधिक आधुनिक और तर्कसंगत लगने लगे एवं अल्पसंख्यक पिछड़े और दकियानूसी। अगर यह प्रक्रिया इसी तरह चलती रहेगी तो कुछ दिनों बाद राष्ट्र-निर्माण या समाज-रचना की आधुनिक प्रक्रियाओं से अल्पसंख्यक समुदाय धीरे-धीरे बाहर हो जाएँगे।

कुछ आलोचक मानते हैं कि भारत में दरअसल बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक परिघटना इसी तरह के अप्रिय परिणाम पैदा कर रही है। अल्पसंख्यक एक सतायी हुई मानसिकता की भींच में फँसते जा रहे हैं जिसके प्रभाव में उत्तरोत्तर मज़बूत होती हुई उनकी धार्मिक और परम्परानिष्ठ

दावेदारियाँ बहुसंख्यक मानसिकता को प्रभावित कर रही हैं। बहुसंख्यकों के एक हिस्से को यह लगने लगा है कि संविधानप्रदत्त अधिकारों के कारण अल्पसंख्यक न केवल राष्ट्रीय मुख्यधारा से कट गये हैं, बल्कि उन्हें कुछ ऐसी विशेष सुविधाएँ मिली हुई हैं जिनसे बहुसंख्यक वंचित हैं। इस भावना के कारण बहुसंख्यकों में भी अनावश्यक ढंग से सताया हुआ मानस बनने लगा है। इस मानस को केंद्र करके उन्हें बहुसंख्यकवादी राजनीति के लिए गोलबंद किया जा सकता है। कुल मिला कर इसके कारण हमारा लोकतंत्र बहुसंख्यकवादी होने के खतरे से ग्रस्त हो गया है।

समस्या की इस व्याख्या से इनकार नहीं किया जा सकता। नब्बे के दशक में हुई रामजन्मभूमि आंदोलन की राजनीति ने इससे जुड़ी हुई हकीकतों की तरफ ध्यान खींचा है। इसलिए इस समस्या पर कई नज़रियों से विचार करना ज़रूरी है।

पहला प्रश्न यह है कि क्या बहुसंख्या-अल्पसंख्या की यह संकल्पना भारतीय समाज के संदर्भ में यथार्थपरक है? राजनीतिशास्त्रियों के एक प्रभावशाली हिस्से की मान्यता है कि भारतीय समाज में कोई भी समूह बहुसंख्यक नहीं है। यहाँ तक कि कोई विशाल अल्पसंख्यक इकाई भी नहीं है। यह समाज तो छोटे-छोटे विभिन्न अल्पसंख्यक समूहों का एकत्रीकरण है। अर्थात् यह विचार हिंदू कहे जाने वाले बहुसंख्यकों या मुसलमान कहे जाने वाले अल्पसंख्यकों को भी एकात्म इकाई मानने से इनकार करता है। हिंदू समाज तो विभेदीकृत है ही, और ग़ैर-हिंदू समुदाय भी आंतरिक रूप से विभेदीकृत हैं। इस लिहाज़ से बहुसंख्यकवादी या अल्पसंख्यकवादी राजनीति भले ही थोड़े-बहुत समय के लिए कामयाब हो जाए, वह लम्बे समय तक नहीं चल सकती।

दूसरा तर्क पहले से संबंधित है। इसके केंद्र में चुनाव के ज़रिये बनने वाले बहुमत और अल्पमत की प्रक्रिया है। इसके अनुसार लोकतांत्रिक निर्वाचन के ज़रिये बहुमत और अल्पमत लगातार बनते-बिगड़ते रहते हैं। जो आज बहुमत में है, वह कल अल्पमत में हो सकता है। जो आज विपक्ष में है, कल सत्तारूढ़ हो सकता है। अस्थायी बहुमत और अस्थायी अल्पमत लोकतंत्र का सार है। यह लोकतांत्रिक अस्थायित्व समुदायों के स्थायित्व के खिलाफ़ जाता है और उसे लगातार अस्थिर करता रहता है। दूसरे, सामुदायिक अधिकारों के साथ व्यक्ति को दिये गये अधिकार भी हैं, जो धीरे-धीरे करके सेकुलरीकरण और आधुनिकीकरण की अन्य प्रक्रियाओं के कारण व्यक्तियों की स्थायी सामुदायिक निष्ठाओं को कमज़ोर करते रहते हैं। आखिरकार वोट का अधिकार एक व्यक्तिगत अधिकार है। यह मान लेना कि व्यक्ति इस अधिकार का उपयोग सदैव ही अपने समुदाय के आदेश पर करेगा, व्यक्ति

और समुदाय के बदलते रिश्तों के संदर्भ में एक सैद्धांतिक ज्यादाती होगी। हो सकता है कि व्यक्ति कुछ समय तक या कभी-कभी ज्यादा समय तक भी अपने व्यक्तिगत अधिकारों को सामुदायिक आग्रहों के मातहत करता रहे, पर वह ऐसा हमेशा नहीं करता रह सकता। इसलिए इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि अंततः समाज के विकास-क्रम में राजनीतिक प्रक्रिया पर से सामुदायिक जकड़ ढीली हो जाएगी।

तीसरा प्रश्न यह है कि क्या बहुसंख्यकवाद और अल्पसंख्यकवाद के खतरे को देखते हुए अल्पसंख्यकों को विशेष अधिकार नहीं दिये जाने चाहिए थे? या अगर वे तत्कालीन परिस्थितियों और विभाजन की राजनीति के दबाव में दे दिये गये थे, तो क्या अब उनकी हानियाँ देखते हुए उन्हें वापस ले लिया जाना चाहिए? यह एक बेहद अहम सवाल है जिस पर सैद्धांतिक और व्यावहारिक दृष्टि से विचार करना ज़रूरी है।

अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक समुदायों का एकात्म न हो कर विभेदीकृत होना एक सामाजिक तथ्य है। लेकिन, इसके साथ-साथ यह भी एक हकीकत है कि ये विभेदीकृत समुदाय किन्हीं धार्मिक, जातीय, भाषायी और सांस्कृतिक समरूपताओं के ज़रिये आपस में बँधे हुए भी हैं। आधुनिक राजनीति और उसकी अंतर्निहित प्रतियोगिता इन समरूपताओं को आधुनिक अस्मिताओं में बदल देती है। इस तरह से सामाजिक रूप से विभेदीकृत पर राजनीतिक रूप से समरूप समुदायों की परिघटना उभरती है। इसका सबसे ताकतवर उदाहरण दलित अस्मिता है। पूर्व-अछूतों का समाज सामाजिक रूप से जातियों, सम्प्रदायों और वर्गों में बँटा हुआ है, लेकिन देश के कई हिस्सों में (उत्तर प्रदेश में सबसे ज्यादा) वोट डालने के मामले में उसका व्यवहार एकात्म राजनीतिक समुदाय जैसा है। दूसरा उदाहरण मुसलमानों का है। सामाजिक रूप से विभेदीकृत होने के बावजूद कई प्रदेशों में मतदान प्राथमिकताएँ उनका धुवीकरण कर देती हैं। ज़ाहिर है कि सामाजिक विभेदीकरण का तर्क राजनीतिक मामले में ठीक उसी तरह से काम नहीं करता। इस रोशनी में संविधानप्रदत्त बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक ढाँचा एक हद तक यथार्थपरक लगता है।

संविधान निर्माताओं का यह चिंतन दुरुस्त प्रतीत होता है कि अल्पसंख्यकों को कुछ ऐसे विशेष अधिकार दिये जाने चाहिए जिनके ज़रिये वे बहुसंख्यक आग्रहों से अलग अपनी विशिष्टताओं के आधार पर सामाजिक-राजनीतिक संरचना में भागीदारी कर सकें।

दूसरा विचारणीय प्रश्न यह है कि क्या वे इन अधिकारों का लाभ उठाने के चक्कर में अल्पसंख्यक बने रहना चाहेंगे? फ़ौरी लिहाज़ से इसका उत्तर हाँ में निकल

सकता है, और दूरगामी लिहाज से इसका जवाब ना में भी हो सकता है। हाँ और ना का यह समीकरण किस करवट बैठेगा, यह आधुनिकीकरण की प्रक्रिया पर निर्भर है कि व्यक्ति और समुदाय का रिश्ता किस रफ्तार से बदलेगा। यह इस बात पर भी निर्भर है कि आधुनिकता द्वारा रचे जाने वाले समुदायों की प्रवृत्ति क्या होगी और उनका प्राक्-आधुनिक सामुदायिक संरचनाओं से किस तरह का संबंध होगा।

देखें : अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफ़लातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, उपयोगितावाद, एडमण्ड बर्क, क्रांति, ज्याँ-जाक रूसो, जॉन लॉक, जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, थॉमस हॉब्स, थॉमस पेन, न्याय, न्याय : नारीवादी आलोचना, न्याय : रॉल्स का सिद्धांत, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-1 और 2, नागर समाज, पनोप्टिकॉन, प्रतिनिधित्व, प्रगति, प्रगति : आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य, प्रशासन और सुशासन, फ्रांसीसीवाद, फ्रेड्रिख वॉन हायक, बहुसंख्यकवाद, बुद्धिवाद, माइकेल जोसेफ़ ओकशॉट, माइकेल वाल्ज़र, मिशेल पॉल फ़ूको-1 और 2, यूटोपिया, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम, रॉबर्ट नॉज़िक, राज्य-1 और 2, विल किमलिका, सविनय अवज्ञा, स्वतंत्रतावाद, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, समाजवाद, सरकारियत, सामाजिक समझौता, हेनरी डेविड थोरो।

संदर्भ

1. बी. शिवा राव (सम्पा.) (1967), *द फ्रेमिंग ऑफ़ द कांस्टीट्यूशन: सिलेक्ट डॉक्यूमेंट्स*, खण्ड 1 और 2, नयी दिल्ली, आईआईपीए.
2. राजीव भार्गव (2000), 'डेमोक्रेटिक विज्ञान ऑफ़ अ न्यू रिपब्लिक', फ्रांसिस आर. फ्रेंकेल वैगरह (सम्पा.), *ट्रांसफॉर्मिंग इण्डिया : सोशल ऐंड पॉलिटिकल डायनामिक्स ऑफ़ डेमोक्रेसी*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली, पृष्ठ 26-59.
3. रोनाल्ड ड्वॉरकिन (1977), *टेकिंग राइट्स सीरियसली*, डकवर्ट, लंदन.

—अभय कुमार दुबे

बहुसंख्यकवाद

(Majoritarianism)

बहुसंख्यकवाद समरूप सांस्कृतिक संरचना वाले समाजों के लिए अधिकांशतः सकारात्मक साबित हुआ है पर बहुसांस्कृतिक संरचना वाले समाजों के लिए समस्याग्रस्त। बहुसांस्कृतिकता और बहुलता जिस समाज में जितनी अधिक होती है, बहुसंख्यकवाद उसकी राज्य प्रणाली और संसाधनों के बँटवारे के लिए उतनी ही उलझनें पैदा करता है। समरूप

समाज की स्थिति में लोकतंत्र के लिए बहुसंख्यकवाद सहज एकता और संसक्ति का वाहक बन जाता है, जबकि बहुसांस्कृतिक समाज में बहुसंख्यकवाद लोकतंत्र की गुणवत्ता को हमेशा संदिग्ध बनाये रखता है। यह साम्प्रदायिक रूपों में भी उभरता है, और सेकुलर रूपों में भी।

बहुसंख्यकवाद एक धर्म या जाति या जातीयता में पैदा हुए लोगों के किसी दूसरे धार्मिक समुदाय पर प्रभुत्व का ही नाम नहीं है। यह रवैया एक धर्म के भीतर भी पनपता है। पाकिस्तान का उदाहरण बताता है कि किस तरह इस्लाम के भीतर सुन्नी बहुसंख्यकवादी प्रभुत्व ने शियाओं और अहमदियों को दूसरे दर्जे के नागरिक की हैसियत में धकेल दिया है। पाकिस्तानी संविधान का अनुच्छेद 260 अहमदियों को गैर-मुसलमान अल्पसंख्यक करार दे कर उनके धार्मिक और सामाजिक जीवन को इस्लामिक प्रतीकों के इस्तेमाल से वंचित कर देता है। अहमदियाओं के लिए अपने पूजा स्थल को मसजिद तक कहना एक अपराध है। इज़रायल घोषित रूप से यहूदी बहुसंख्यक राष्ट्र है। उसका लोकतंत्र यहूदी बहुसंख्या के हितों के लिए काम करने वाली व्यवस्था है। जब वह अपने अरब नागरिकों को ही पूरे अधिकार नहीं देता, तो उससे यह उम्मीद करना बेकार ही है कि वह फ़िलिस्तीनियों को आजादी दे देगा।

बहुसंख्यकवादी राजनीति ने पिछले कुछ दशकों में सारी दुनिया में सेकुलरवाद की व्यावहारिक राजनीति और सेकुलर राज्य के चरित्र को संकटग्रस्त किया है। सिक्ख राष्ट्रवाद तो भारतीय राष्ट्रवाद के खिलाफ़ अपनी क्षेत्रीय बहुसंख्या का दावा करके सशस्त्र विद्रोह ही कर चुका है। श्रीलंका में बौद्ध सिंहली बहुसंख्यकवाद ने निरंकुश रवैया अख़्तियार करके तमिलों के जातीय नरसंहार पर कमर कस रखी है।

भारत में बहुसंख्यकवाद : भारत जैसे बहुसांस्कृतिक, बहुभाषी और बहुधार्मिक देश में बहुसंख्यकवाद का विचार आधुनिक युग में शुरू हुई जनगणनाओं की देन है। 1901 में अंग्रेज़ों ने भारत में पहली बार जनगणना करायी जिसके जरिये भारतवासियों को सामाजिक संदर्भों में संख्या के महत्त्व का भान हुआ। उन्होंने यह भी देखा कि ज्यादा या कम संख्या का होना सत्ता में हिस्सेदारी के लिए किस तरह से अहम है। खास बात यह है कि जनगणना ने बहुसंख्या और अल्पसंख्या के स्थायित्व को रेखांकित किया। इसके कारण भविष्य की राजनीति उत्तरोत्तर पेचीदा होती चली गयी। धर्म, जाति और समुदाय के आधार पर होने वाली जनगणनाओं से विभिन्न समुदायों को दो जानकारियाँ मिलीं। पहली, वे एक स्थाई हिंदू बहुसंख्या हैं, और दूसरी कि हिंदू बहुसंख्या के विशाल दायरे में उनकी अपनी जाति या समुदाय का संख्याबल क्या है। इससे जातिगत या समुदायगत मोर्चेबंदी और गठजोड़ों का

रास्ता खुला। दूसरी तरफ़ ग़ैर-हिंदू धर्मावलम्बियों को एहसास हुआ कि वे हमेशा अल्पसंख्या में रहने के लिए अभिशप्त हैं। इसलिए अल्पसंख्यक समुदायों ने ऐसी राजनीतिक प्रविधियों और प्रौद्योगिकियों का इस्तेमाल शुरू किया जिनके जरिये वे किसी एक इलाके में अपनी अपेक्षाकृत बहुसंख्यक मौजूदगी का लाभ उठा कर सत्ता की दावेदारी कर सकते थे, और बाक़ी देश में अल्पसंख्यकों की तरह आचरण करते हुए अपने अधिकारों की संरक्षा के आंदोलन चलाते रह सकते थे।

भारत में बहुसंख्यकवादी आग्रहों के साथ हिंदुत्ववादी शक्तियों का नाम 1925 से ही जुड़ा हुआ है। इसके कारण आम तौर से यह समझा जाने लगा है कि बहुसंख्यकवाद अनिवार्य तौर से साम्प्रदायिक राजनीति को ही जन्म देगा। लेकिन भारतीय राजनीति में सेकुलर बहुसंख्यकवाद की परिघटना भी मौजूद है। दलित आंदोलन के नेतृत्व में बहुजन आंदोलन एक ऐसी ही राजनीति का प्रतिनिधित्व करता है जिसके भीतर स्थाई चरित्र के समुदाय आपस में जुड़ कर (हिंदुओं के दलित-पिछड़े समुदाय और धर्मांतरण करके मुसलमान व ईसाई बने समुदाय) एक स्थाई बहुसंख्या का निर्माण करने की कोशिश करने में लगे हुए हैं। 1989 में राष्ट्रीय मोर्चा सरकार द्वारा पिछड़े वर्गों के आरक्षण पर मण्डल आयोग की रपट मंजूर करने के बाद से इस तरह की बहुसंख्यकवादी राजनीति को काफ़ी बल मिला है।

किसी समुदाय के सोच-विचार, आत्मविश्वास का स्तर और राजनीति का तौर-तरीका उसकी संख्या पर बहुत-कुछ निर्भर करता है। मसलन, बहुसंख्यक होने के कारण जिन इलाकों में अल्पसंख्यकों को सत्ता मिल सकती थी (स्वातंत्र्यपूर्व भारत के पाँच प्रांतों में मुसलमान बहुसंख्या में थे), वहाँ उनकी पार्टियों की दिलचस्पी पाकिस्तान बनाने के आंदोलन में उतनी नहीं थी, जितनी दिलचस्पी मुसलमान अल्पसंख्या वाले प्रांत दिखा रहे थे। पाकिस्तान के संस्थापक मुहम्मद अली जिन्ना ने स्वीकार किया है कि पाकिस्तान निर्माण में मुसलमान बहुसंख्या के मुक़ाबले मुसलमान अल्पसंख्या वाले प्रांतों का अधिक योगदान है। इसी तरह से धार्मिक अल्पसंख्या वाले समुदाय अपने सांस्कृतिक रीति-रिवाजों को लेकर अधिक संवेदनशील देखे गये हैं, जबकि उसी धार्मिक समुदाय के सदस्य बहुसंख्यक स्थिति में अपने सांस्कृतिक जीवन में रैंडिकल सुधारों की तजवीज़ आसानी से स्वीकार कर लेते हैं।

ज़रूरी नहीं कि बहुसंख्यकवाद की राजनीति निरंकुशता या तानाशाही के जरिये ही अपने क्रम जमाये। उसके कुछ पैरोकार चुनावी राजनीति में बहुसंख्यक राजनीतिक समुदाय की रचना करके लोकतांत्रिक राज्य पर क़ब्ज़ा करने की परियोजना भी चलाते हैं। इस तरह वे

लोकतंत्र को ख़ारिज करके उसकी परिभाषा ही बदल देना चाहते हैं। लोकतंत्र को ऐसी चुनौती भारत की ज़मीन पर हिंदू राष्ट्रवाद की दावेदारियों ने दी है। उसने चुनावी लोकतांत्रिक राजनीति में भागीदारी करते हुए सेकुलरवाद की मौजूदा संरचनाओं को छद्म करार दे कर राजतंत्र को बहुसंख्यकवादी मोड़ देने का नियोजित प्रयास किया है। इन बहुसंख्यकवादियों का तर्क है कि भारतीय समाज तो अपनी हिंदू बहुसंख्या के कारण नैसर्गिक रूप से सेकुलर और सहिष्णु है। इन लोगों की निगाह में संविधानसम्मत सेकुलर राज्य अपने मर्म में हिंदू राष्ट्र ही है, भले ही ऐसी घोषणा न की गयी हो। अल्पसंख्यक समुदायों को मिलने वाली किसी भी विशेष सुविधा को बहुसंख्यकवाद तुष्टीकरण की नीति करार देते हैं। चुनावी संख्या के खेल का फ़ायदा उठा कर ये लोग हिंदुओं की आंतरिक बहुलता, विविधता और सहिष्णुता को अपने सच्चे सेकुलरवाद का पर्याय बताते हुए उसे छद्म यानी सरकारी सेकुलरवाद के ख़िलाफ़ स्थापित करने की कोशिश करते हैं। हम जानते हैं कि बहुलता और सहिष्णुता सेकुलरवाद का एक गुण अवश्य है, पर वह उसकी पर्याप्त शर्त नहीं हो सकती। इसी तरह बहुसंख्यकवाद की भित्ति हिंदू के रूप में पैदा हुए लोगों के स्थाई और इस प्रकार अलोकतांत्रिक बहुमत के आधार पर बनती है। लोकतांत्रिक बहुमत अस्थायी और बनते-बिगड़ते बहुमत और अल्पमत से तैयार होता है।

दिलचस्प बात यह है कि इस दावे के प्रति उन राजनीतिक शक्तियों के बीच भी हमदर्दी देखी जाती है जो साम्प्रदायिक आधार पर की जाने वाली राजनीति का विरोध करती हैं। हिंदुओं की धार्मिक बहुलता और विविधता को सेकुलर प्रवृत्तियों से सम्पन्न मान लेने का नतीजा यह निकला है कि अल्पसंख्यकों को पूर्ण नागरिकता प्रदान करने के समर्थक भी भीतर ही भीतर राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया में उनकी भूमिका न के बराबर ही देखते हैं। यह रवैया कुछ इस प्रकार का है : अल्पसंख्यकों (खासकर मुसलमान समुदाय) को लोकतंत्र के मानकों के लिहाज़ से बराबरी का दर्जा मिलना चाहिए। वैसे भी ज़्यादातर मुसलमान किन्हीं परिस्थितियों में धर्मांतरण करने वाले हिंदू ही हैं। उन्हें एक व्यापक हिंदू संस्कृति का अंग समझा जाना चाहिए। उनकी तो केवल पूजा पद्धति अलग है। वे 'मुहम्मदिया हिंदू' या 'सनातनी मुसलमान' हैं। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ जैसे हिंदू राष्ट्रवादी संगठन यह सूत्रीकरण खुले रूप में करते हैं, पर उसके कई विरोधी (जिनका ताल्लुक़ कम्युनिस्ट, समाजवादी और गाँधीवादी आंदोलन तक से है) इसी तरह के विमर्श को घुमा फिरा कर चलाते हैं। सेकुलरवाद के बारे में चर्चा करते समय उनका जोर उसे कट्टर हिंदू के मुक़ाबले उदार हिंदू के संघर्ष में सीमित कर देने पर रहता है। देखने में हिंदू बनाम हिंदू का यह फ़ार्मूला डॉ. लोहिया की एक बेहतरीन रचना से उठाया गया ज़रूर लगता है, पर असल में इसकी मंशा हिंदू मानस

पर आलोचनात्मक दृष्टि न डाल कर सेकुलर विमर्श से अल्पसंख्यकों को (विशेष रूप से मुसलमान) गैरहाजिर करने की रहती है।

देखें : अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफ़लातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, उपयोगितावाद, एडमण्ड बर्क, क्रांति, ज्याँ-जाक रूसो, जॉन लॉक, जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, थॉमस हॉब्स, थॉमस पेन, न्याय, न्याय : नारीवादी आलोचना, न्याय : रॉल्स का सिद्धांत, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-1 और 2, नागर समाज, पनोप्टिकॉन, प्रतिनिधित्व, प्रगति, प्रगति : आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य, प्रशासन और सुशासन, फ़्रासीवाद, फ्रेड्रिख वॉन हायक, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, बुद्धिवाद, बहुसंस्कृतिवाद, माइकेल जोसेफ़ ओकशॉट, माइकिल वालज़र, मिशेल पॉल फ़ूको-1 और 2, यूटोपिया, रामजन्मभूमि आंदोलन-1 से 3 तक, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम, रॉबर्ट नॉज़िक, राज्य-1 और 2, विल किमलिका, सविनय अवज्ञा, स्वतंत्रतावाद, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, समाजवाद, सरकारियत, सामाजिक समझौता, हेनरी डेविड थोरो।

संदर्भ

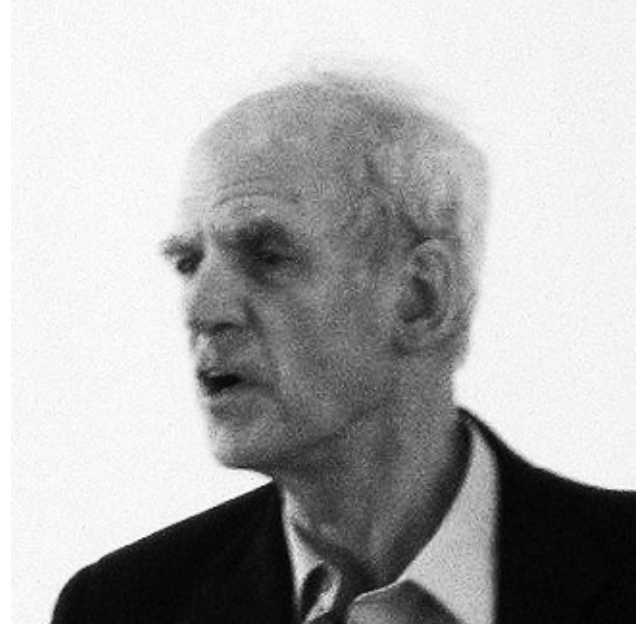
1. सुदीप्त कविराज (1995), 'रिलीजन, पॉलिटिक्स एंड मॉडर्निटी', संकलित : उपेंद्र बख्शी और भीखू पारेख (सम्पा.), *क्राइसिस एंड चेंज इन कंटेम्परेरी इण्डिया*, सेज, नयी दिल्ली.
3. राजेंद्र वोरा (2004), 'डिक्लाइन ऑफ़ कास्ट मेजोरिटेरियनिज़म इन इण्डियन पॉलिटिक्स', संकलित : राजेंद्र वोरा और सुहास पल्शीकर (सम्पा.), *इण्डियन डेमांक्रेंसी : मीनिंग्स एंड प्रैक्टिसिज़*, सेज, नयी दिल्ली, पृष्ठ 271-798
4. राम मनोहर लोहिया (1993), 'हिंदू बनाम हिंदू', *परिवेश*, मुरादाबाद.

—अभय कुमार दुबे

बहुसंस्कृतिवाद

(Multiculturalism)

बहुसंस्कृतिवाद का सिद्धांत युरोकेंद्रीयता और श्वेत-संस्कृति के आधार पर किये जाने वाले समरूपीकरण के खिलाफ़ विकसित हुआ है। यह वैचारिक-राजनीतिक और सांस्कृतिक आंदोलन न केवल आज के विकसित और उदारतावादी समाजों की बहुलवादी बनावट को स्वीकार करता है, बल्कि समुदायों के भीतर विभिन्न आस्थाओं, जातीयताओं और विविध संस्कृतियों की मौजूदगी को सकारात्मक मान कर उन्हें व्यक्ति के सशक्तीकरण का स्रोत भी करार देता है। बहुसंस्कृतिवाद मूलतः अमेरिकी परिस्थिति की उपज है।



चार्ल्स टेलर : 'द पॉलिटिक्स ऑफ़ रिकॉग्निशन'

इसका जन्म श्वेत-अमेरिकी पहचान के आधार पर रचित अमेरिकीपन की शर्तें बदलने के लिए चले प्रति-सांस्कृतिक और मानवाधिकार आंदोलनों के दौरान हुआ। अमेरिकी समाज को मेल्टिंग पॉट (कुठाली) कहा जाता है। इसका मतलब होता है विविध जातीय धाराओं का अमेरिकी संस्कृति में विसर्जन। मेल्टिंग पॉट की धारणा के मुकाबले सलाद के तश्तरी का विचार रखा जाता है जिसमें एक राष्ट्र की सीमाओं में रहते हुए भी संस्कृतियाँ अपनी अलग-अलग पहचान नहीं खोतीं।

बहुसंस्कृतिवाद के पैरोकारों का विचार है कि प्रत्येक समुदाय सहअस्तित्व में रहते हुए एक-दूसरे के मूल्यों और परम्पराओं से कुछ न कुछ लेकर कर समृद्ध होता रहता है। यह प्रक्रिया उसकी अस्मिता को स्वागत योग्य सतत परिवर्तन के दौर से गुज़ारती है। सहिष्णुता की वकालत करने वाला यह सिद्धांत निष्क्रिय या थोपी गयी के बदले एक सक्रिय क्रिस्म की सहनशीलता के पक्ष में है। बहुसंस्कृतिवाद ऐसे राज्य को अच्छी निगाहों से नहीं देखता जिसमें किसी एक समुदाय या संस्कृति को प्रभुत्व की हैसियत देने का रुझान हो। इसी तरह बहुसंस्कृतिवाद लोकतंत्र को अनिवार्य मानता है, क्योंकि विविध सांस्कृतिक आचरण-संहिताएँ लोकतंत्र की अनुपस्थिति में एक साथ नहीं रह सकतीं। उदारतावादी राजनीतिक दर्शन के दायरे में अस्सी के दशक के आखिरी वर्षों में बहुसंस्कृतिवाद की संकल्पना उभर कर सामने आयी। उदारतावाद व्यक्ति की स्वायत्तता और अधिकारों पर जोर देता है। समुदायवाद ने इस व्यक्ति-केंद्रीयता की इस आधार पर आलोचना की कि यह व्यक्ति के सामुदायिक या सामाजिक संदर्भों की उपेक्षा करता है। माइकल सैंडल, मैकेंटायर और

चार्ल्स टेलर जैसे समुदायवादियों ने इनसान की श्रद्धासयत और उसकी सोच विकसित करने में समुदाय की भूमिका पर जोर दिया। बहुसंस्कृतिवाद ने उदारतावादी रूपरेखा के भीतर समुदायवाद की आलोचनाएँ समायोजित करने की कोशिश की है।

जाहिर है कि बहुसंस्कृतिवाद के पक्ष में दिये जाने वाले तर्क सिर्फ 'ऐतिहासिक गलतियों' को सुधारने या भेदभाव खत्म करने से संबंधित नहीं हैं। विविधता को मान्यता देने के पीछे इस विश्वास का भी महत्वपूर्ण योगदान है कि प्रत्येक संस्कृति में मूल्यवान तत्त्व हैं, जिन्हें दूसरी संस्कृति के लोगों को जानना चाहिए। हर संस्कृति से दूसरी संस्कृति के लोग बहुत-कुछ सीख सकते हैं। बहुसंस्कृतिवाद के कारण अब राजनीतिक समुदाय समरूप निकाय की तरह नहीं देखा जाता। इसकी जगह अब माना जाता है कि राजनीतिक समुदाय न केवल विविधताओं से भरा हुआ है, बल्कि यह विविधता एक मूल्यवान लोकतांत्रिक राजनीतिक 'स्पेस' है।

इस सिलसिले में आयरिश मेरियन यंग का स्थान बेहद अहम है जिन्होंने सबसे पहले विभेदीकृत नागरिकता के विचार पर जोर दिया था। इसका मतलब था नागरिकता का एकरूप और तथाकथित सार्वभौम ढाँचा अपनाने की जगह समूहों के अधिकारों और पहचानों को भी मान्यता देने की जरूरत। 1993 में प्रकाशित चार्ल्स टेलर के लेख 'द पॉलिटिक्स ऑफ रिक्विजिशन' ने भी बहुसंस्कृतिवाद से संबंधित वाद-विवाद को बढ़ावा देने में अहम भूमिका निभायी। टेलर ने तर्क दिया कि व्यक्ति अपनी पहचान समुदायों के भीतर ही हासिल करते हैं। इसी तरह बहुसंस्कृतिवाद के बारे में विल किमलिका के विचारों का भी महत्वपूर्ण स्थान है। किमलिका ने बहुसंस्कृतिवाद के अपने मॉडल द्वारा सांस्कृतिक और समूहगत विभेदों के समायोजन की कोशिश की है। किमलिका यह समायोजन इस तरह करना चाहते हैं जिससे किसी व्यक्ति को अपने समूह या सांस्कृतिक समुदाय के कारण किसी नुकसान का सामना न करना पड़े। साथ ही वे सांस्कृतिक समुदायों के आत्म-सुरक्षा के अधिकार और व्यक्तियों के नागरिक और राजनीतिक अधिकारों के बीच एक जुड़ाव खोजने की कोशिश भी करते हैं। किमलिका के अनुसार निम्नलिखित तरीके को अपना कर लोकतांत्रिक नागरिकता की रूपरेखा के भीतर राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों और जातीय समूहों की माँगों का समायोजन किया जा सकता है: (अ) सभी नागरिकों के सामान्य नागरिक और राजनीतिक अधिकारों की सुरक्षा। इनमें मुख्यतः ये अधिकार शामिल हैं: साहचर्य की आजादी, अपना धर्म मानने की आजादी, अभिव्यक्ति की आजादी, कहीं भी आने-जाने की आजादी। इसमें किसी समूह द्वारा अपनी विशिष्टता की सुरक्षा के लिए राजनीतिक संगठन बनाने की आजादी भी

शामिल है। (ब) विशेष कानूनी और संवैधानिक प्रावधानों द्वारा सांस्कृतिक विविधता समायोजित करने की कोशिश करना। इसके लिए विशिष्ट समूहों को विशेषाधिकार देने की माँग करना।

किमलिका ने तीन तरह के समूह-विभेदीकृत अधिकारों के बारे में बताया है: स्वशासन अधिकार, बहु-जातीय अधिकार और विशेष प्रतिनिधित्व अधिकार। स्वशासन अधिकार राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों के लिए किसी-न-किसी तरह की राजनीतिक स्वायत्तता या भू-क्षेत्रीय अधिकार-क्षेत्र को मान्यता देते हैं। राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों का अक्सर दावा होता है कि राज्य के दायरे में उनके (आम तौर पर अनैच्छिक रूप से) शामिल होने के समय उन्होंने अपने स्वशासन का अधिकार नहीं छोड़ा था। इस तरह के अधिकार संघीय संरचना की सीमाओं के भीतर कुछ स्वायत्तता का बंदोबस्त करके दिये जाते हैं।

बहु-जातीय अधिकार आप्रवासी समुदायों से संबंधित हैं और आंग्ल-अनुरूपता मॉडल को चुनौती देते हैं। इस मॉडल में माना जाता है कि आप्रवासी समूहों को अपनी जातीय परम्परा के सभी पहलू छोड़ कर खुद को इन समाजों में पहले से क्रायम सांस्कृतिक मानकों और आचरण-संहिताओं में जड़ कर देना चाहिए। बहु-जातीय अधिकार की दायेदारी में यह बात भी शामिल है कि हर समूह को मुख्यधारा के समाज में अपनी विशिष्टताएँ और विभेद व्यक्त करने का अधिकार है। जातीय समूहों ने इस अधिकार का और विस्तार करते हुए भेदभाव खत्म करने के लिए विशिष्ट समुदायों के रूप में अपनी पहचान क्रायम के पक्ष में राज्य से सकारात्मक कार्रवाई की माँग की है। कुछ जातीय और सांस्कृतिक अल्पसंख्यकों ने अपने विभिन्न सांस्कृतिक कार्यक्रमों के लिए सार्वजनिक कोष से आर्थिक मदद की भी माँग की है। इसमें उन कानूनों से छूट की माँग शामिल है जो उन्हें नुकसान की स्थिति में रखते हैं। मसलन, ब्रिटेन में यहूदियों और मुसलमानों ने रविवार की छुट्टी से छूट की माँग की है।

विशेष-प्रतिनिधित्व अधिकारों में राष्ट्रीय और जातीय समूहों के साथ ही गैरजातीय श्रेणियों ने भी दिलचस्पी दिखाई है। इन गैरजातीय श्रेणियों में स्त्रियाँ, गरीब और अपाहिज शामिल हैं। बुनियादी तौर पर विशेष-प्रतिनिधित्व अधिकारों ने राज्य की संरचनाओं को ज्यादा प्रातिनिधिक बनाकर उनका लोकतंत्रीकरण किया है। इनके कारण विधायिका में जातीय और नस्ली अल्पसंख्यकों, स्त्रियों, गरीबों और अपाहिजों के नुमाइंदे आ पाये हैं। अब विधायिका में ज्यादा व्यापक समूहों का प्रतिनिधित्व होने लगा है।

जेम्स टली और भीखू पारिख ने भी बहुसंस्कृतिवाद से

जुड़े सैद्धांतिक वाद-विवाद में भूमिका निभायी है। टली एक सार्वभौम उदारतावादी राष्ट्र-राज्य की संकल्पना पर सवाल खड़ा करते हुए उदारतावादी राज्य में क्रानून के विभिन्न स्रोतों पर ध्यान देते हैं। दूसरी ओर पारिख बहुसंस्कृतिवाद की ऐसी संकल्पना पर जोर देते हैं जो उदारतावाद के सदगुणों अर्थात् मानवीय गरिमा, सहिष्णुता और क्रियाविधि संबंधी निष्पक्षता कायम रखने के साथ नयी और विविध सांस्कृतिक पहचानों को मान्यता दे।

बहुसंस्कृतिवाद की आलोचना भी होती है। यह सही है कि वह समुदाय में व्यक्ति के विचार और समुदाय की प्राथमिकता स्थापित करने की कोशिश करता है, लेकिन इसमें यह खतरा भी मौजूद है कि बहुसंस्कृतिवाद के तहत समुदाय के भीतर व्यक्ति के आलोचनात्मक और सृजनशील सदस्यता के अधिकार को नकार दे। बहुसंस्कृतिवाद कई समुदायों के भीतर कायम ऊँच-नीच और भेदभाव की उपेक्षा भी कर सकता है। चूँकि बहुसंस्कृतिवाद समुदाय की सुरक्षा पर बहुत ज्यादा ध्यान देता है, इसलिए इसके तर्क समुदाय की बाहरी पाबंदियों से हिफाजत की तरफ़दारी करते हैं, लेकिन साथ ही समुदाय के इस अधिकार को भी मान्यता देते हैं कि वह अपने सदस्यों पर आंतरिक पाबंदियाँ लगा सकता है। ये पाबंदियाँ व्यक्ति की आजादी को नुक़सान पहुँचाती हैं। ब्रायन बैरी ने कई आधारों पर बहुसंस्कृतिवाद की आलोचना की है। उनके अनुसार बहुसंस्कृतिवाद का यह मानना पूरी तरह से ग़लत है कि मनुष्यों में दूसरी संस्कृति अपनाने की क्षमता नहीं होती है। बहुसंस्कृतिवाद का यह मानना भी सही नहीं है कि संस्कृति में किसी भी तरह का बदलाव समूह की 'सांस्कृतिक पहचान' को ख़तरे में डाल देता है। बैरी की एक प्रमुख चिंता यह है कि मान्यता की राजनीति ने समतामूलक पुनर्वितरण की राजनीति की अहमियत घटा दी है। सांस्कृतिक असमानताओं पर बहुत ज्यादा जोर दिये जाने के कारण पूँजीवाद की सबसे बड़ी आलोचना अर्थात् सामाजिक-आर्थिक असमानता का सवाल बहुत पीछे छूट गया है। इसी तरह, सूसन मोलर ओकिन ने ध्यान दिलाया है कि बहुसंस्कृतिवाद महिलाओं के हितों के अनुकूल नहीं है। अधिकतर समूहों में महिलाओं की स्थिति अच्छी नहीं है, और बहुसंस्कृतिवाद इन समूहों या समुदायों को महिलाओं के साथ भेदभाव भरा व्यवहार करने की छूट दे सकता है।

देखें : अधिकार, अधिकार : सैद्धांतिक यात्रा, अरस्तू, अफ़लातून, अनुदारतावाद, अराजकतावाद, अन्य-अन्यीकरण, उदारतावाद, उपयोगितावाद, एडमण्ड बर्क, क्रांति, ज्यॉ-जाक रूसो, जॉन लॉक, जेरेमी बेंथम, जॉन स्टुअर्ट मिल, जॉन रॉल्स, थॉमस हॉब्स, थॉमस पेन, न्याय, न्याय : नारीवादी आलोचना, न्याय : रॉल्स का सिद्धांत, नागरिकता, नागरिकता : अन्य परिप्रेक्ष्य-1 और 2, नागर समाज, पनोप्टिकॉन, प्रतिनिधित्व, प्रगति, प्रगति : आलोचनात्मक परिप्रेक्ष्य, प्रशासन और सुशासन, फ़्रासीवाद, फ़्रेड्रिख वॉन हायक, बहुसंस्कृतिवाद,

बहुसंख्यकवाद, बहुसंख्यक-अल्पसंख्यक, बुद्धिवाद, माइकेल जोसेफ़ ओकशॉट, माइकिल वालज़र, मिशेल पॉल फूको-1 और 2, यूटोपिया, राजनीतिक दर्शन के नारीवादी आयाम, रॉबर्ट नॉज़िक, राज्य-1 और 2, विल किमलिका, सविनय अवज्ञा, स्वतंत्रतावाद, सर्वसत्तावाद, सम्प्रभुता, समाजवाद, सरकारियत, सामाजिक समझौता, हेनरी डेविड थोरो।

संदर्भ

1. विल किमलिका (2009), *समकालीन राजनीति-दर्शन : एक परिचय* (दूसरा संस्करण) (अनुवाद : कमल नयन चौबे), पियर्सन लांगमैन, नयी दिल्ली.
2. आयरिश मेरियन यंग (1995), *मल्टीकल्चरल सिटीज़नशिप : अलिबरल थियरी ऑफ़ माइनोंरिटी राइट्स*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.
3. ब्रायन बैरी (2001), *कल्चर एंड इक्वलिटी*, हार्वर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज, एमए, 2001
4. चार्ल्स टेलर (1993), 'द पॉलिटिक्स ऑफ़ रिकॉग्निशन', ए. गटमन (सम्पा.), *मल्टीकल्चरलिज़म*, प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन, एनजे.

— कमल नयन चौबे

बाबू मंगूराम

(Babu Manguram)

जिन दिनों महाराष्ट्र में उत्पीड़ित समुदायों की अस्मिता और सम्मान के लिए डॉ. आम्बेडकर संघर्ष कर रहे थे, उसी समय पंजाब में बाबू मंगूराम मुंगोवालिया (1886-1980) ने उनकी समानता और सम्मान के लिए आंदोलन छेड़ा। 1925 में उन्होंने आद-धर्म मण्डल की नींव रखी। इस मण्डल के सदस्यों की मान्यता थी कि हम इस देश के मूलनिवासी हैं और हमारा धर्म आद-धर्म है। बाबू मंगूराम की यह मुहिम उस दौर में चल रहे एक देशव्यापी अभियान का अहम हिस्सा थी। बीसवीं सदी के आरम्भ में पंजाब में आद-धर्म, उत्तर-प्रदेश में आदि-धर्म, आंध्र प्रदेश में आदि-आंध्रा, कर्नाटक में आदि-कर्नाटक तथा तमिलनाडु में आदि-द्रविड़ के नाम से सामाजिक न्याय की मुहिमें चली थीं। जाहिर है कि देश भर में उस समय दलित समाज के बीच नयी चेतना उभर रही थी। आदि धर्म आंदोलन को बौद्ध धर्म का अगला पड़ाव भी माना जाता है। मंगूराम कुछ समय ब्रिटिश साम्राज्य को अपदस्थ करने के लिए बनायी गयी गदर पार्टी में भी रहे। पार्टी के सदस्य के रूप में उन्हें लास-एंजिलस भी भेजा गया। उनकी मुलाक़ात जर्मनी में चांसलर हिटलर से भी हुई। उस समय स्वतंत्रता आंदोलन अपने चरम पर था। 1919 में जलियाँवाला

बाग हत्याकाण्ड की घटना हो चुकी थी। विशेष रूप में पंजाब के नौजवानों का खून अंग्रेजों के खिलाफ खौल रहा था। ऐसे समय में मंगूराम ने क्रांतिकारी गतिविधियों में जम कर भाग लिया। मंगूराम कुछ दिनों मनीला में भी रहें। उनके द्वारा आरम्भ किया गया आद-धर्म आंदोलन समाज में अलगाव की भावना फैलाने के बजाय आपसी भाईचारे को अपना आधार बनाता था। अँधेरे में भटकती पंजाब की दलित और पिछड़ी जातियों को आगे बढ़ने के लिए शिक्षारूपी उजाले की किरणें इसी आंदोलन से मिलीं जिससे उनके बीच नयी चेतना उभर सकी।

मंगूराम का जन्म पंजाब के होशियारपुर जिले के मुंगोवाल गाँव के एक दलित परिवार में 14 जनवरी, 1886 को हुआ था। उनके पिता का नाम हरनाम दास तथा माता का नाम आरती था। घर में चमड़े का कार्य होता था। बचपन में मंगूराम भी पिता के काम में हाथ बँटाते थे। घर में चमड़े का कार्य करने के साथ-साथ बालक मंगूराम का मन पढ़ने-लिखने के लिए भी करता था। लेकिन एक तो गरीबी, ऊपर से जिस जाति में उन्होंने जन्म लिया था, उस जाति के बच्चों तथा बड़ों को पढ़ाई-लिखाई करने की मनाही थी। उन दिनों समाज में परम्परा ही कुछ ऐसी थी। बालक मंगूराम का शिक्षा के प्रति इतना प्रेम देखकर उनकी समस्या का हल किया वहीं के एक साधू ने। सात वर्ष की उम्र होने तक उसी साधू ने बालक मंगूराम को पढ़ाया। बाद में घर से कुछ दूरी पर स्थित स्कूल में उन्हें दाखिला मिला। वे देहरादून के भी एक स्कूल में पढ़े। स्कूल में उनके साथ काफ़ी बुरा व्यवहार किया जाता था। उदाहरण के लिए जिस कमरे में कक्षा चलती थी, उन्हें उससे बाहर बैठने को कहा जाता था। कक्षा में जो कुछ पढ़ाया जाता था उसे वे बाहर से ही एक खिड़की से सुनते तथा देखते थे। लेकिन इस तरह के दुर्व्यवहार से भी आगे पढ़ने का उनका उत्साह कम नहीं हुआ और उन्होंने इन तमाम बाधाओं को पार करते हुए अपनी पढ़ाई जारी रखी। उनके परिवार की आर्थिक स्थिति ठीक न थी। इसलिए 1909 में जीविका उपार्जन हेतु वे कैलिफोर्निया चले गये। इसी दौरान अमेरिका में वे गदर पार्टी के सदस्यों के सम्पर्क में आये। 22 अप्रैल 1980 को उनका निधन हुआ।

1925 के थोड़ा पहले भारत लौटने के लिए उन्होंने पानी के जहाज़ में यात्रा आरम्भ की। भारत में उन्होंने मद्रास, मुम्बई, पुणे, सतारा, नागपुर और नयी दिल्ली आदि स्थानों का भ्रमण किया। वे मद्रास के मीनाक्षी मंदिर भी गये जहाँ उन्हें घुसने नहीं दिया गया। देश में अपने भ्रमण के दिनों में इसी तरह जगह-जगह सामाजिक विषमता का शिकार हो कर उन्हें अपार दुःख हुआ। परिणामस्वरूप उन्होंने समाज से विषमता दूर करने का प्रण लिया। 1926 में वे पंजाब लौटे। जहाँ अपने गाँव में उन्होंने प्राइमरी स्कूल आरम्भ किया और उसका नाम आद-धर्म स्कूल रखा। इसके बाद वे पूरी तरह

से समाज को जाग्रत करने में लग गये। उन्होंने दावा किया कि प्राचीन काल में आद या युगाद नामों के महान असुर सम्राट रहे हैं। अतः आदधर्म का अर्थ हुआ आद के समय वाले धर्म को मानने वाले। तत्कालीन पंजाब में आर्य समाज में काफ़ी प्रभाव था। होशियारपुर में दयानंद दलित उद्धार सभा का गठन भी किया गया था।

11-12 जून, 1926 को मंगूराम ने स्थानीय लोगों के साथ एक बैठक की और आद-धर्म आंदोलन के माध्यम से पिछड़े समाज में चेतना लाने का अभियान आरम्भ किया। जल्दी ही आद-धर्म आंदोलन के कार्य-क्षेत्र का भी विस्तार होने लगा। नवम्बर, 1926 में आद-धर्म मण्डल के नाम से जालंधर में कार्यालय खोला गया। यहीं से मंगूराम ने पूरे पंजाब में समाज सुधार का कार्य आरम्भ किया। धीरे-धीरे उनके साथ और लोग भी जुड़ते गये और आद-धर्म आंदोलन पंजाब के शहरों में ही नहीं बल्कि गाँवों और क़स्बों में भी तेज़ी से फैलने लगा।

1928 में जब साइमन कमीशन भारत आया तब उन्होंने आद-धर्म प्रतिनिधियों के साथ कमीशन को लाहौर में ज्ञापन दिया। इसमें कहा गया था कि वे भारत के मूल निवासी हैं और उनका आद-धर्म हिंदू धर्म से अलग है। यही नहीं 31 मार्च और 1 अप्रैल, 1932 को लाहौर में लोथियन कमेटी के सामने भी दयानंद दलित उद्धार सभा और आद मण्डल ने अपनी माँगें प्रस्तुत कीं। आद-धर्म मंडल का एक झण्डा भी बनाया गया, जिसका रंग गुलाबी आभा लिए हुए लाल था। संगठन के सदस्य जयगुरुदेव के नाम से परस्पर अभिन्दन करते थे। जिस समय डॉ. आम्बेडकर लंदन के गोलमेज़ सम्मेलन में दलित प्रश्न पर गाँधी से बहस कर रहे थे, उस समय तब पंजाब से उनके समर्थन में मंगूराम ने ही सर्वाधिक तार भिजवाये थे।

दलित-पिछड़ी जातियों में विकास के नये आयाम लाने के लिए मंगूराम ने पंजाबी तथा उर्दू में *आदि डंका* नाम से साप्ताहिक पत्र भी प्रकाशित किया। अनेक स्थानों पर स्कूल खोले गये। विशेष रूप से दलित वर्ग की कुछ जातियों जैसे रविदसिया, वाल्मीकि, महशा, डोम, जुलाह तथा मेघ आदि के लिए तो यह आंदोलन यह वरदान साबित हुआ। आंदोलन के कारण इन जातियों में जहाँ शिक्षा का प्रचार-प्रसार हुआ, वहीं उनकी आर्थिक उन्नति भी हुई। पंजाब से जितने लोग अमेरिका, कनाडा, इंग्लैण्ड, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, पनामा तथा मैक्सिको आदि देशों में गये उनमें काफ़ी संख्या आदधर्मियों की थी। पंजाब के आदधर्मियों की उन्नति का स्तर भारत सरकार के जनगणना विभाग की रिपोर्ट से भी पता लगता है। रिपोर्ट के अनुसार आद-धर्म ने अपने अनुयायियों एक सूत्र दिया आदपुरख। आदपुरख का अर्थ हुआ आद नामक पूर्वज। यह आदपुरख सिक्खों के अकाल पुरख का अनुसरण नहीं था। नयी दिल्ली में रह रहे दलितों



बाबू मंगूराम मुंगोवालिया (1886-1980)

के बाद पंजाब के आदधर्मियों का ही नम्बर आता है। पंजाब के आदधर्मियों की शिक्षा का स्तर अन्य राज्यों के शिक्षा-स्तर से कहीं ऊँचा है। यह सामाजिक परिवर्तन आद-धर्म आंदोलन के कारण ही हो सका।

पूना पैक्ट के बाद पंजाब में मंगूराम ने राजनीतिक क्षेत्र में भी सुधार करने के प्रयास किये। उनका मानना था कि राजनीति करना भी दीन-दुखियों की सेवा करना है। वे चाहते थे कि जीवन के सभी क्षेत्रों में दलित तथा पीड़ितों को न्याय मिले, जिसके लिए उन्होंने हर सम्भव प्रयास भी किये। मंगूराम के प्रयासों का फल यह हुआ कि पंजाब में अनुसूचित जाति के विद्यार्थियों को स्कूल, कॉलेजों में पढ़ने की इजाजत मिल गयी। दूसरी ओर पंजाब में उन्हें खेती की ज़मीन खरीदने के लिए भी अदालत द्वारा मान्यता मिली। इससे पूर्व पंजाब लैण्ड एलिऐनेशन एक्ट-1890 के तहत उन्हें ग़ैर-किसान घोषित कर दिया गया था, इसलिए वे खेती की ज़मीन नहीं खरीद सकते थे। आंदोलन के प्रभाव में छुआछूत के खिलाफ भी सरकार द्वारा क़ानून बनाये गये और जातिभेद का व्यवहार में पालन करने वालों को दण्ड देने का प्रावधान किया गया।

पंजाब के समाज और सार्वजनिक जीवन में हुए इन परिवर्तनों का श्रेय मंगूराम को ही जाता है। वे 1945 में पंजाब विधान सभा के सदस्य भी बने। उन्होंने आद-धर्म कढ़ाई-बुनाई केंद्रों की भी स्थापना की जिनकी मदद से बेरोज़गार युवकों को रोज़गार मिल सका। विभाजन के समय पाकिस्तान से शरणार्थी के रूप में भारत आ रहे दलितों पर ब्राह्मणवादी शक्तियाँ वापस जाने का दबाव डाल रही थीं, पर उन्हें शरणार्थी शिविरों में रहने का अधिकार दिलाने में बाबू मंगूराम

ने उल्लेखनीय भूमिका निभायी।

देखें : अनुसूचित जातियाँ, अस्मिता की भारतीय राजनीति, अन्य पिछड़े वर्ग, आयोतीदास पांडीतर, आयंकाली, आम्बेडकर-गाँधी विवाद, इरोड वेंकट रामस्वामी नायकर पेरियार, कांशी राम, गाड़गे बाबा, गोपाल बाबा वलंगकर, ज्योतिराव गोविंदराव फुले, जाति और जाति-व्यवस्था-1, 2, 3 और 4, बहुजन समाज पार्टी-1 और 2, भदंत आनंद कौसल्यायन, भारतीय संविधान-1 से 8 तक, भीमराव रामजी आम्बेडकर, स्वामी अछूतानंद हरिहर।

संदर्भ

1. सोहनलाल शास्त्री (2008), *बाबा साहेब आम्बेडकर के सम्पर्क में 25 वर्ष*, सम्यक प्रकाशन, नयी दिल्ली.
2. बलबीर माधोपुरी, *छांग्या रूख* (आत्मकथा), वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.
3. मार्क जुरगेंसमेयर (1982), *रिलीजस रिबेल्स इन पंजाब : द आद-धर्म चैलेंज टू कास्ट*, नवयान पब्लिकेशन, नयी दिल्ली.

— मोहनदास नैमिशराय

बाज़ार

(Market)

कहने के लिए बाज़ार उस जगह का नाम है जहाँ बेचने और खरीदने वालों के बीच धन के बदले चीज़ों का आदान-प्रदान होता है। लेकिन आर्थिक सिद्धांत में बाज़ार या मार्केट का मतलब किसी भौगोलिक स्थान से परे जा कर व्यापारिक विनिमय की उस प्रणाली से है जिसमें न केवल परस्पर स्वीकार्य दाम पर जिंसों का विनिमय होता है, बल्कि जिसके माध्यम से पूरी अर्थव्यवस्था में संसाधनों का अनियंत्रित आबंटन भी सम्पन्न होता रहता है। बाज़ार अपने आप में एक न दिखाई देने वाली घटना भी है। क्रेता और विक्रेताओं के निजी तौर से मिलने का स्थान होने के साथ-साथ वह किसी भी तरह के संचार नेटवर्क के ज़रिये कहीं और कभी भी बन जाता है। चाहे वह टेलिफोन का सम्पर्क हो या इंटरनेट का। बाज़ार कई तरीके के हो सकते हैं। जिसे फ़ैक्टर मार्केट कहते हैं वहाँ श्रम, ज़मीन और पूँजी जैसी जिंसों का विनिमय होता है। समाज-विज्ञान की दुनिया आधुनिक युग की शुरुआत से ही बाज़ार के पक्ष और विपक्ष में बँटी रही है। समाज वैज्ञानिकों का एक हिस्सा बाज़ार की कामयाबी को उसके अस्तित्व का प्रधान पहलू मानते हुए अपने पक्ष में पश्चिमी पूँजीवादी देशों की निरंतर खुशहाली को उदाहरण के तौर पर पेश करता है। दूसरा हिस्सा बाज़ार की विफलताओं पर

अधिक जोर देते हुए बाज़ार की निर्वैयक्तिकता, अमानवीयता और किसी भी क्रीमत पर मुनाफ़ा कमाने की प्रवृत्ति को उभारता है। नब्बे के दशक में सोवियत खेमे के बिखराव के बाद से बाज़ार का विचार दुनिया के मानस पर छा गया है, लेकिन इसके बावजूद उसके अंतर्निहित अंदेशों पर चर्चा बंद नहीं हुई है। बाज़ार उस समय नाकाम माना जाता है जब माँग और आपूर्ति की शक्तियों का संतुलन इस हद तक गड़बड़ा जाता है कि न केवल बाज़ार का तंत्र अव्यवस्थित हो जाए, बल्कि उसके कारण किसी भी तरह के कल्याणकारी लक्ष्यों को वेधना नामुमकिन लगने लगे।

जिसे उत्पादों का बाज़ार कहते हैं वहाँ इन कारकों के प्रयोग से पैदा होने वाली जिंसी और सेवाओं का व्यापार होता है। बाज़ार क्रेता-प्रधान हो सकता है और विक्रेता-प्रधान भी। यह इस बात पर निर्भर करता है कि वह मुख्यतः क्रेताओं के लिए लाभकारी है या विक्रेताओं के लिए। जब आपूर्ति ज़्यादा होती है तो फ़ायदा ख़रीददारों को होता है, और जब माँग ज़्यादा होती है तो बेचने वाले लाभ में रहते हैं। अगर माँग और आपूर्ति की मात्रा एक सी हो जाए तो उस स्थिति को मार्केट क्लियरिंग कहते हैं। बाज़ार राष्ट्रीय, अंतर्राष्ट्रीय और भूमण्डलीय स्तर पर काम करते हैं।

वैसे तो किसी भी क्रिस्म की अर्थव्यवस्था इससे अछूती नहीं हो सकती, पर बाज़ार पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के मर्म में है। मार्क्स के अनुसार पूँजीवाद माल और सेवाओं के रूप में पण्यों का उत्पादन करता है। हर पण्य का एक बाज़ारू दाम होता है। यह प्रक्रिया बाज़ार को पूँजीवादी आर्थिक जीवन का संगठनकारी तत्त्व बना देती है। बाज़ार संसाधनों का आबंटन करता है। क्या उत्पादित होना है का फ़ैसला करके उत्पाद के दाम और उसे बनाने के बदले मज़दूर की उजरत भी बाज़ार ही तय करता है। पूँजीवाद की गतिशीलता और सफलता का श्रेय बाज़ार की इसी भूमिका को दिया जाता है। बाज़ार की दक्षता से प्रभावित हो कर उसके कई समाजवादी आलोचक भी अपने समाजवाद में बाज़ार का समावेश करके मार्केट-सोशलिज़्म का सूत्रीकरण करने लगे हैं।

बाज़ार के कामकाज को समझने की सर्वाधिक प्रभावशाली कोशिश ऐडम स्मिथ ने अपनी 1776 में प्रकाशित रचना 'वेल्थ ऑफ़ नेशंस' में की थी। स्मिथ अपने ज़माने में सामंती गिल्डों और वणिक्वादियों द्वारा आर्थिक गतिविधियों पर लगायी जाने वाली पाबंदियों के विपरीत बाज़ार की मुक्त सक्रियता के पक्ष में थे। उनका कहना था कि बाज़ार एक स्व-विनियमनकारी परिघटना है जिसके तहत होने वाली स्पर्धा 'अदृश्य हाथ' की तरह बिना किसी बाह्य नियंत्रण के आर्थिक जीवन को निर्देशित करती रहती है। स्मिथ की मान्यता थी हर व्यक्ति अपने स्व-हित के लिए प्रयासरत रहता

है और इस प्रक्रिया में व्यापक सामाजिक हित की उपलब्धि अपने-आप हो जाती है, उसके लिए इरादा किया जाए या न किया जाए। स्मिथ के अनुसार स्पर्धा का अदृश्य हाथ ही समृद्धि पैदा करता है।

बाज़ार पर आधारित अर्थव्यवस्था में व्यापारिक संबंधों का एक विशाल नेटवर्क काम करता है जिसमें उपभोक्ता और उत्पादक दाम-तंत्र के माध्यम से अपनी इच्छाओं और आवश्यकताओं को व्यक्त करते हैं। यानी सरकार (राज्य) को आर्थिक गतिविधियों में हस्तक्षेप करने की या तो कोई ज़रूरत नहीं होती, या बाज़ार की सुविधा के मुताबिक थोड़ा-बहुत दख़ल देने की आवश्यकता ही होती है। राज्य के अधिक हस्तक्षेप का मतलब होता है बाज़ार का नाजुक संतुलन बिगड़ने का अंदेश। इस अवधारणा का अतिवादी रूप है 'लैसे-फ़ेयर' जिसका प्रवर्तन सत्रहवीं सदी के फ़्रांस में प्रकृतिवादियों के ख़िलाफ़ बहस करते हुए बोईगिलबर्ट और लेजेंडे ने किया था। लेकिन आम तौर पर ऐडम स्मिथ समेत बाज़ार का कोई भी पैरोकार इसे ठीक नहीं मानता। वे बाज़ार को चलाने में सरकार के सीमित लेकिन अहम किरदार को मान्यता देते हैं।

केंद्रीकृत नियोजन पर आधारित समाजवादी अर्थव्यवस्थाओं के पतन के बाद से बाज़ार की अवधारणा ने दुनिया भर के मानस पर अपना बोलबाला स्थापित कर लिया है। लोगों को लग रहा है बाज़ार उद्यमशीलता, नवाचार और आर्थिक वृद्धि के वाहक हैं। उसके माध्यम से उपभोक्ताओं को उत्पादकों की ओर से और उत्पादकों को उपभोक्ताओं की ओर से ज़रूरी संकेत मिलते रहते हैं। इस संकेत प्रणाली का स्नायु-तंत्र दाम-प्रणाली को माना जाता है। मसलन, अगर एक बर्तन के दाम बढ़ते हैं तो उपभोक्ताओं को संकेत जाता है कि उसे कम ख़रीदो, पर उत्पादक यह संकेत ज़्यादा बर्तन बनाने के रूप में ग्रहण करते हैं। ज़्यादा बर्तनों की सप्लाई होते ही दाम गिर जाते हैं और अधिक संख्या में बिक्री होने लगती है। इस संकेत प्रणाली के केंद्र में उपभोक्ता-सम्प्रभुता का तर्क है। उपभोक्ता द्वारा लिया गया ख़रीद का निर्णय एक तरह से उसका वोट है जो बाज़ार के लोकतंत्र में जीत-हार का फ़ैसला करता है। इसी के परिणामस्वरूप हम बाज़ार में उपभोक्ता माल की अनगनित क्रिस्में देखते हैं जो ख़रीददारों को लुभाने का प्रयास करती रहती हैं। उपभोक्ता के लिए चयन की स्वतंत्रता को कायम रखने का आग्रह निरंतर प्रौद्योगिकीय नवाचार, उद्यमशीलता और विपणन में सुधार की तरफ़ ले जाता है। मानवीय इतिहास में प्रौद्योगिक प्रगति का काफ़ी-कुछ श्रेय बाज़ार की गतिशीलता को दिया जा सकता है। उन्नीसवीं सदी में लोहे और इस्पात के उद्योग से लेकर बीसवीं सदी में प्लास्टिक, इलेक्ट्रीकल और इलेक्ट्रॉनिक उत्पादों का विकास में बाज़ार की भूमिका को नज़रअंदाज़

नहीं किया जा सकता। बाज़ार द्वारा प्रौद्योगिकीय उन्नति को बढ़ावा देने की हक़ीक़त उसके सबसे बड़े आलोचक कार्ल मार्क्स ने भी स्वीकार की है।

मोटे तौर पर बाज़ार का बचाव आर्थिक दक्षता की दलील के आधार पर किया जाता है, लेकिन स्वतंत्रतावादी सिद्धांतकारों ने नैतिक और राजनीतिक कारणों से भी उसका पक्ष लिया है। चूँकि लोग बाज़ार के ज़रिये अपनी कामनाओं को तुष्ट कर पाते हैं इसलिए ये सिद्धांतकार उसे नैतिक रूप से वांछनीय मानते हैं। उपयोगितावादी सिद्धांत के अनुसार भी बाज़ार का बचाव किया जा सकता है, क्योंकि बाज़ार अपने सुख और दुःख का फ़ैसला व्यक्ति के हाथ में ही छोड़ देता है। इस लिहाज़ से बाज़ार के स्पेस को निजी स्वतंत्रता के दायरे में भी देखा जा सकता है। एक अन्य दृष्टि के अनुसार बाज़ार समानता का वाहक भी माना जा सकता है, क्योंकि वह व्यक्ति का मूल्यांकन योग्यता, प्रतिभा और कठोर परिश्रम की क्षमता के हिसाब से करता है, न कि नस्ल, चमड़ी के रंग, धर्म, जेंडर आदि के आधार पर। बाज़ार की पैरोकारी इस तर्क के आधार पर भी की जाती है कि व्यावसायिक रिश्ते संबंधित पक्षों की ईमानदारी और विश्वास के बिना चल ही नहीं सकते। फिर चाहे वह सेवायोजक और उसके कर्मचारी का रिश्ता हो, या कोई व्यापारिक अनुबंध।

देखें : अर्थ-विज्ञान का समाजशास्त्र, आर्थिक जनसांख्यिकी, अल्फ्रेड मार्शल, अमर्त्य कुमार सेन, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, ऐडम स्मिथ, करारोपण, कल्याणकारी अर्थशास्त्र, क्लासिकल अर्थशास्त्र, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-3, कार्ल मेंगर, कींसियन अर्थशास्त्र, गुन्नार मिर्डाल, जोआन रोबिंसन, जॉन कैनेथ गालब्रेथ, जॉन मेनार्ड कींस, जॉन स्टुअर्ट मिल, जोसेफ़ शुमपीटर, जैव विविधता, ट्रस्टीशिप, डेविड रिकार्डो, ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम, थॉमस मन और वणिकवाद, थॉमस रॉबर्ट माल्थस, दक्षता, धन, नियोजकशास्त्र, नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र, निकोलस काल्दोर, नियोजन, नियोजन : मार्क्सवादी विमर्श, पण्य, पण्य-पूजा, पेटेंट, पॉल सेमुअलसन, पियरो साफ़ा, पूँजी, प्रतियोगिता, फ़्रांस्वा केस्ने और प्रकृतिवाद, फ़्रेड्रिख वॉन हायक, बहुराष्ट्रीय निगम, बाज़ार की विफलताएँ, बाज़ार-समाजवाद, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, भारत में बहुराष्ट्रीय निगम, भारत में नियोजन, भारत में पेटेंट क़ानून, भारत में शेर संस्कृति, भूमण्डलीकरण और पूँजी बाज़ार, भूमण्डलीकरण और वित्तीय पूँजी, भूमण्डलीकरण और वित्तीय उपकरण, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, मिल्टन फ़्रीडमैन, मूल्य, राजकोषीय नीति और मौद्रिक नीति, रॉबर्ट ओवेन, विलफ़्रेडो परेटी, विश्व व्यापार संगठन, विश्व बैंक, विलियम पेटी, विलियम स्टेनली जेवंस, वैकासिक अर्थशास्त्र, शोषण, साइमन कुज़नेत्स।

संदर्भ

1. 'मार्केट्स' और 'मार्केट्स ऐंड पब्लिक गुड्स', संकलित : टेड हॉड्रिच (सम्पा.) (2005), ऑक्सफ़र्ड कम्पेनियन टु फ़िलॉसफी, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.
2. ए. शोटर (1989), फ़्री मार्केट इकॉनॉमिक्स : ए क्रिटीकल एप्रोज़ल,

सेंट मार्टिस प्रेस, न्यूयॉर्क.

2. एंड्रू हेवुड (2004), 'प्रॉपर्टी, प्लानिंग ऐंड द मार्केट', पॉलिटिकल थियरी : ऐन इंट्रोडक्शन, पालग्रेव मैकमिलन, न्यूयॉर्क.
3. जी. होजसन (1984), द डेमोक्रेटिक इकॉनॉमी : अ न्यू लुक एट प्लानिंग, मार्केट ऐंड पॉवर, हार्मड्सवर्थ, पेंगुइन.

— अभय कुमार दुबे

बाज़ार की विफलताएँ

(Market Failures)

बाज़ार के आलोचकों की दो क्रिस्में हैं। एक पक्ष की मान्यता है कि उसकी संरचना में बुनियादी ख़ामियाँ हैं इसलिए उसका उन्मूलन कर दिया जाना चाहिए। यह दलील मुख्यतः मार्क्सवादियों और नव-अनुदारतावादियों द्वारा विकसित की गयी है। दूसरा पक्ष बाज़ार की ताक़त को मान्यता देते हुए उसके नियंत्रित इस्तेमाल का तर्क देता है। यह तर्क मुख्यतः कींसियन अर्थशास्त्र की देन है। दोनों ही पक्ष पूँजीवाद के इतिहास में दर्ज महामंदियों की मिसालें देते हैं। इस पुरानी बहस में एक नया आयाम वित्त, उत्पादन और पूँजी बाज़ार के भूमण्डलीकरण ने पैदा किया है। इसके कारण बाज़ार के आधारभूत तर्क में कुछ ऐसी तब्दीलियाँ हो गयी हैं जिनके प्रभाव में राष्ट्रीय सरकारों के हस्तक्षेप के बावजूद बाज़ारों को विफल होने से रोकना नामुमकिन सा हो गया है। अस्सी और नब्बे के दशक का आर्थिक घटनाक्रम बताता है कि बाज़ार की विफलताओं में अन्यान्य कारणों से सरकारों की भी भागीदारी रही है।

यह हमारे निकट इतिहास की एक हक़ीक़त है कि बीसवीं सदी के दौरान ज़्यादातर बाज़ार आधारित अर्थव्यवस्थाएँ सरकारों के हस्तक्षेप और अलग-अलग सीमाओं तक किये गये नियंत्रण के कारण लगातार अच्छा प्रदर्शन कर पाने में कामयाब रही हैं। सरकारें बाज़ार को उन आर्थिक परिस्थितियों से बचाती रही हैं जिनके प्रति अनुक्रिया करना उनके लिए तक्ररीबन नामुमकिन होता है। मसलन, प्रत्येक उत्पादक गतिविधि की एक सामाजिक क़ीमत होती है जिसका पता उस उत्पादन में लगी हुई फ़र्म की बैलेंस शीट से नहीं लग सकता। प्रदूषण एक ऐसी ही सामाजिक क़ीमत है। बाज़ार की ताक़तें प्रदूषण के प्रति बेपरवाह ही नहीं रहतीं, बल्कि उसे प्रोत्साहित भी करती हैं। उन्हें इससे कोई सरोकार नहीं रहता कि औद्योगिक प्रदूषण के कारण दूसरे उद्योगों को नुक़सान पहुँचता है और पड़ोस की आबादी पर

अस्वास्थ्यकारी असर पड़ता है। इसी तरह बाज़ार स्वच्छता, सार्वजनिक स्वास्थ्य, परिवहन, शिक्षा और ऐसी ही कई सार्वजनिक इस्तेमाल की अतिआवश्यक जिंसें और सेवाएँ मुहैया कराने में नाकाम रहा है। अपनी इन विफलताओं से बचने के लिए बाज़ार के पास सरकारी हस्तक्षेप को निमित्त करने के अलावा और कोई चारा नहीं है। इन सार्वजनिक सुविधाओं के बिना सामाजिक जीवन ही नहीं बाज़ार का अस्तित्व भी संकटग्रस्त हो जाता है। इसलिए बाज़ार चाहता है कि सरकार उसके लिए ये सुविधाएँ मुहैया कराये जिसका फायदा वह अपने-आप को मज़बूत करने के लिए उठाये लेकिन इसके लिए न कोई प्रयास करना पड़े और न कुछ खर्च करना पड़े। बाज़ार की इस नकारात्मक प्रवृत्ति का उदाहरण लाइटहाउस और समुद्र में तैर रहे जहाज़ के बीच रिश्ते के माध्यम से दिया जाता है। प्रकाशस्तम्भ द्वारा दी गयी चेतावनियाँ जहाज़ को सही रास्ता अख्तियार करने और दुर्घटनाग्रस्त होने से बचाने के लिए ज़रूरी हैं, पर प्रकाशस्तम्भ के संचालक जहाज़ों से उनकी क्रीमत नहीं वसूल पाते। चूँकि प्रकाशस्तम्भ की सेवा सभी के लिए उपलब्ध है इसलिए जहाज़ उसका निःशुल्क उपयोग करता रहता है।

बाज़ार की दूसरी विफलता है अपने ही बुनियादी तत्त्व यानी प्रतियोगिता को कमज़ोर करने की प्रवृत्ति। व्यावहारिक स्थिति यह है कि बाज़ार में सक्रिय मज़दूर और मालिक दोनों ही आपसी प्रतियोगिता के बजाय आपसी सहयोग पर जोर देते हैं। मज़दूर अपने हितों को ध्यान में रख कर आपसी सहयोग के आधार पर अपना संघ बनाते हैं ताकि मालिक पर दबाव डाल कर वेतन और सुविधाएँ बढ़वा सकें। उसी तरह मालिक लोग मुनाफ़ा बढ़ाने और बाज़ार को अधिक पूर्वानुमान-योग्य बनाने के लिए मिल-जुल कर कार्टेल बना लेते हैं। कार्टेल बना कर होड़ को धता बतायी जा सकती है और मनचाहे दाम निर्धारित किये जा सकते हैं। यही कारण है कि अधिकतर बाज़ारों पर थोड़े से कारपोरेशनों का क़ब्ज़ा होता है। कारपोरेशन अपने प्रभुत्व का फायदा उठा कर उपभोक्ता-सम्प्रभुता के विचार को बेअसर कर देते हैं। बजाय इसके कि कारपोरेशन उपभोक्ता द्वारा भेजे गये संकेतों के मुताबिक उत्पादन की योजना बनायें, वे उपभोक्ता की पसंद और रुचि को बदलने के लिए चालाकी से बनायी गयी विज्ञापन-मुहिमों का इस्तेमाल करते हैं। अर्थशास्त्री जॉन कैनेथ गालब्रेथ ने इसी तर्क के आधार पर कहा था कि उपभोक्ता-सम्प्रभुता अपने आप में एक खोखली अवधारणा के सिवा कुछ नहीं है।

बाज़ार की तीसरी बड़ी विफलता है कि वह उन मुक़ामों पर संसाधनों का आबंटन करना पसंद करता है जहाँ

मुनाफ़े की ज़्यादा सम्भावना हो। भले ही उस तरह के निवेश से समाज में विषमता का अधिक प्रसार क्यों न हो रहा हो। मसलन, अगर व्यापक समाज को साइकिलों की ज़रूरत है और ज़बरदस्त क्रय-शक्ति से लैस मुट्ठी भर लोगों को क्रीमती कारों का शौक है तो बाज़ार साइकिलों के बजाय कारों के उत्पादन में निवेश करना पसंद करेगा। वह विलासितापूर्ण और फ़ैशनबिल सामग्री के उत्पादन में लगा रहेगा। इसके लिए तर्क दिया जाएगा उपभोक्ताओं द्वारा चयन की स्वतंत्रता का। लेकिन इस तरह के बाज़ार में क्रय-शक्ति से वंचित ग़रीबों की कोई भूमिका नहीं होती। बाज़ार की तीसरी अहम नाकामी है हर परिस्थिति में स्व-विनियमन न कर पाना। कींसियन अर्थशास्त्र का दावा है कि एक खास तरह के हालात में पूँजीवादी बाज़ार तेज़ गिरावट का शिकार हो कर बेरोज़गारी को हद से ज़्यादा बढ़ा देता है, पर इस परिस्थिति से निकलने की क्षमता पैदा नहीं कर पाता। तीस के दशक की महामंदी की पृष्ठभूमि में विकसित हुई बाज़ार की यह आलोचना राज्य द्वारा अर्थव्यवस्था में कुल माँग को प्रबंधित करने का उपाय सुझाती है ताकि दीर्घकालीन परिप्रेक्ष्य में बाज़ार को और सुदृढ़ किया जा सके।

मार्क्सवादी और नव-अनुदारतावादी बाज़ार के ख़िलाफ़ नैतिक और राजनीतिक मुक़ाम पर खड़े हो कर बहस करते हैं। उनका कहना है कि बाज़ार सामाजिक मूल्यों का विनाशक है। वह न केवल मुनाफ़ाख़ोरी, खुदगर्जी और लालच को बढ़ावा देता है, बल्कि उसके तहत सामूहिकता और सामुदायिकता की भावनाएँ बेअसर हो जाती हैं और एक अलग-थलग पड़े हुए व्यक्तिवादी इनसान का जन्म होता है। ऐसा मनुष्य अपनी नागरिक और सामाजिक जिम्मेदारियाँ पूरी करने में कोई दिलचस्पी नहीं दिखाता। यह आलोचना दावा करती है कि सबके लिए बराबर के मौक़े देने वाला बाज़ार महज़ एक मिथक है। असल में बाज़ार जन्मना विरासत, सामाजिक हैसियत और शैक्षिक पृष्ठभूमि के हिसाब से सम्पत्ति और आमदनी का बँटवारा करता है।

भूमण्डलीकरण के आगमन के बाद बाज़ार के आलोचकों ने नये आवेग से यह कहना शुरू कर दिया है कि आर्थिक विषमता के साथ में सच्चा लोकतंत्र असम्भव है। भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया ने बाज़ार की संरचना में तीन नयी परिघटनाएँ जोड़ी हैं। पहली है उत्पादन का भूमण्डलीकरण। बहुराष्ट्रीय निगमों के लिए ज़रूरी था कि वे अपने गृह देशों में माँग की स्थिरता और लागत में बढ़ोतरी से बचने का कोई रास्ता निकालें। इसलिए उन्होंने उन देशों में अपनी इकाइयाँ लगानी शुरू कर दीं जहाँ कच्चा माल और मज़दूरी सस्ती थी, एवं जहाँ का बाज़ार अभी विकास के दौर में था। दूसरी है

वित्त का भूमण्डलीकरण। यह परिघटना उत्पादन के भूमण्डलीकरण से भी ज्यादा असरदार साबित हुई है। इसके कारण अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूँजी की मात्रा और गति में अनाप-शानाप बढ़ोतरी हो चुकी है। 1986 में हर रोज़ न्यूयॉर्क, लंदन और टोक्यो के मुद्रा व्यापारियों के हाथों से एक खरब 88 अरब डॉलर गुज़र रहे थे जो 1995 तक बढ़ कर दस खरब 20 अरब डॉलर हो चुके थे। तीसरी परिघटना है पूँजी बाजारों का बदलता हुआ चरित्र। विदेशी मुद्रा का ज्यादातर लेन-देन अंतर्राष्ट्रीय व्यापार की ज़रूरतों को पूरा करने के लिए होता रहा है। खरीदारों और विक्रेताओं को विदेशी माल व सेवाओं के सौदे करने के लिए तरह-तरह की मुद्राओं की आवश्यकता पड़ती रही है। लेकिन, अब मुद्रा व्यापार का संबंध इस तरह के पुराने क्रिस्म की अंतर्राष्ट्रीय तिजारत से बहुत कम रह गया है। ऐसी तिजारत को अब केवल अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा व्यापार के दो फ्रीसदी तक ही सीमित रह गयी है। ज़ाहिर है कि वित्त के भूमण्डलीकरण की मौजूदा प्रक्रिया अंतर्राष्ट्रीय व्यापार और निवेश की पूरक न रह कर अपना स्वतंत्र अस्तित्व बना चुकी है। वित्तीय प्रवाह का रिश्ता अब पहले की तरह वास्तविक संसाधनों और दीर्घकालीन उत्पादक निवेश के प्रवाह से नहीं है। नया वित्तीय प्रवाह ज्यादातर तरल रूप में (नकदी के रूप में) है और सट्टेबाज़ी के ज़रिये फटाफट मुनाफ़ा कमा लेने के मक़सद से हो रहा है। यह नया वित्त जिस तेज़ी से किसी देश में जाता है, उतनी ही तेज़ी से उस देश से बाहर भी जा सकता है। अब विदेशी मुद्रा वायदा कारोबार (फ़्यूचर मार्केट) का भी अंतर्राष्ट्रीयकरण हो चुका है। विदेशी संस्थागत निवेशक (एफ़आईआई) और उसके व्युत्पन्न उत्पाद (डेरीवेटिव्ज़) के कारण विकासशील देशों में भी सट्टेबाज़ी तेज़ी से बढ़ी है। इसीलिए वहाँ वित्तीय अस्थिरता का माहौल बना हुआ है। मुद्रा व्यापार के साथ-साथ बांड्स, म्यूचुअल फण्ड्स, जीडीआर और इन सबसे निकले अन्य वित्तीय उपादानों के इस्तेमाल ने भी वित्त के भूमण्डलीकरण में योगदान किया है।

इन परिवर्तनों के कारण बाजारों का चरित्र पहले जैसा नहीं रह गया है और सरकारों की हस्तक्षेप की क्षमता भी सीमित हो गयी है। न केवल विकासशील देश, बल्कि मैक्सिको, मलेशिया और थाइलैण्ड जैसी खुशहाल अर्थव्यवस्थाएँ भी मुद्रा संकट की शिकार हो जाती हैं। हाल ही में मक़ानों और उपभोक्ता सामान के लिए बेतहाशा दिये गये कर्ज़ों से जुड़ी अनियमितताओं के कारण अमेरिका का बैंकिंग कारोबार ढहने के कगार पर पहुँच गया था। सरकारें बाजारों की इन नयी नाकामियों से हैरत में पड़ जाती हैं, क्योंकि पुराने मानकों के हिसाब से तो इन गतिविधियों से आर्थिक लाभ होना चाहिए था। भारतीय बैंक कर्ज़ के लिए गिरवी रखी गई परिसम्पत्तियों का बाज़ार-मूल्य कम होने पर तुरंत मार्जिन का प्रावधान रखते हैं। इसी कारण से भारत में कर्ज़ वसूली में जोखिम तुलनात्मक रूप से कम रहता है।

देखें : अर्थ-विज्ञान का समाजशास्त्र, आर्थिक जनसांख्यिकी, अल्फ्रेड मार्शल, अमर्त्य कुमार सेन, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, ऐडम स्मिथ, करारोपण, कल्याणकारी अर्थशास्त्र, क्लासिकल अर्थशास्त्र, ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम, थॉमस मन और वणिकवाद, दक्षता, धन, नियोक्लासिकल अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र, निकोलस काल्दोर, नियोजन, नियोजन : मार्क्सवादी विमर्श, पण्य, पण्य-पूजा, पेटेंट, पॉल सेमुअलसन, पियरो स्नाफ़ा, पूँजी, प्रतियोगिता, फ्रांस्वा केस्ने और प्रकृतिवाद, फ्रेड्रिख वॉन हायक, बहुराष्ट्रीय निगम, बाज़ार, बाज़ार-समाजवाद, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, भारत में बहुराष्ट्रीय निगम, भारत में नियोजन, भारत में पेटेंट क़ानून, भारत में शेयर संस्कृति, भूमण्डलीकरण और पूँजी बाज़ार, भूमण्डलीकरण और वित्तीय पूँजी।

संदर्भ

1. ए. लीजनहुफ़वुड (1968), *ऑन कींसियन इकॉनॉमिक्स ऐंड द इकॉनॉमिक्स ऑफ़ कींस*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क.
2. मेघनाद देसाई (1979), *मार्क्सियन इकॉनॉमिक्स*, बेसिल ब्लेकवेल, ऑक्सफ़र्ड.
3. कवलजीत सिंह (1999), *पूँजी का भूमण्डलीकरण*, अनुवाद : अभय कुमार दुबे, ऋतिका प्रकाशन, नयी दिल्ली.
4. मानफ्रेड स्टेगर (2002), *ग्लोबलिज़म : द न्यू मार्केट आइडियॉलॉजी*, राउमेन ऐंड लिटिलफ़्रील्ड पब्लिशर्स, लैनहैम, एमडी.

— अभय कुमार दुबे

बाज़ारू संस्कृति

(Mass Culture)

मास कल्चर की अवधारणा जन-संस्कृति, लोकप्रिय-संस्कृति और शास्त्रीय संस्कृति से अलग है। संस्कृति के इन तीनों रूपों के साथ रचनाशीलता के व्यक्तिगत आयाम और उनमें अनिवार्यतः निहित स्वायत्तता का बोध जुड़ा हुआ है। इसके विपरीत मास कल्चर ऐसी अनूठी कृतियों से परिभाषित नहीं होती जो जो व्यक्तिगत प्रतिभा से जन्मती हैं। उसका उत्पादन कमोबेश फ़ैक्ट्री की एसेम्बली लाइन पर बनने वाले माल की तरह होता है। छापेखाने की प्रौद्योगिकी के विकास से इसकी शुरुआत मानी जा सकती है। किताबों, पत्रिकाओं, अखबारों और प्रचार के मक़सद से छापे जाने वाले पर्चों से लेकर रेडियो, टीवी, सिनेमा और पॉप म्यूज़िक ने मिल कर पाठकों और श्रोताओं का एक ऐसा विशाल संसार बनाया है जो बाज़ार में प्रौद्योगिकी का इस्तेमाल करके पण्य की तरह

बिकने वाले सांस्कृतिक रूपों का उपभोग करता है। इस लिहाज से मास कल्चर का सबसे नज़दीकी अनुवाद बाज़ारू संस्कृति ही हो सकता है, यद्यपि इस अभिव्यक्ति के साथ नकारात्मकता की अनुभूति जुड़ी हुई है। इस अवधारणा को समझने के लिए दो दृष्टिकोणों का हवाला ज़रूरी है। इनमें पहला है 'मास' या 'पब्लिक' यानी 'सार्वजनिक' या 'जनता' का तात्पर्य। दूसरा है संस्कृति संबंधी विमर्श में लोक-कला और अभिजन-कला का स्थान।

'मास' और 'कल्चर' के आपसी संबंध का सबसे जाना-माना विश्लेषण फ्रेंकफर्ट स्कूल के साथ मित्रतापूर्ण संबंध रखने वाले विद्वान वाल्टर बेंजामिन के लेख 'आर्ट इन द एज ऑफ़ मैकेनिकल रिप्रोडक्शन' में मिलता है। अपनी इस रचना में बेंजामिन एक ऐसे युग के राजनीतिक और सामाजिक फलितार्थों पर गौर करते हैं जिसमें प्रौद्योगिकी की मदद से कलाकृतियों का पुनरुत्पादन, बड़े पैमाने पर निर्माण और वितरण किया जा सकता है। बेंजामिन के विश्लेषण में 'प्रामाणिक' कला के फीके पड़ते हुए प्रभामण्डल के तर्क की अक्सर शिनाख्त की जा सकती है, लेकिन वास्तव में उनका स्वर इतना निराशाजनक भी नहीं है। वे कहते हैं कि पुनरुत्पादन की प्रक्रिया कला की अनूठी कृतियों के तात्पर्यों की सम्भावनाओं को सीमित नहीं रहने देती। वह उसे सौंदर्यमूलक कलात्मक विश्लेषण के संसार से निकाल कर कहीं अधिक नाना प्रकार के अर्थों की सम्भावनाओं में ले जाती है जिनके तहत सामाजिक प्रक्रियाओं को प्रगतिशील सामाजिक आलोचना के माध्यम से समझने की बेहतर गुंजाइश मिलती है। दूसरी तरफ़ बेंजामिन मासिज़ के लिए रचे गये कला-रूपों में एक तरह के फ़ासीवादी सौंदर्यशास्त्र के अंदेशे भी देखते हैं।

मास या मासिज़, पब्लिक या जनता एक आधुनिक परिघटना है जिसे समझना जितना जटिल है, उतना ही मुश्किल है उसे नज़रअंदाज़ करना। अट्टारहवीं और उन्नीसवीं सदी में राजनीतिक अधिकार केवल मालिक वर्ग और पुरुषों को ही नसीब थे। सार्वजनिक जीवन इन अधिकारसम्पन्न व्यक्तियों तक ही सीमित था, इसलिए पब्लिक नामक शै की आसानी से शिनाख्त की जा सकती थी। लेकिन बीसवीं सदी में राजनीतिक अधिकारों के सर्वव्यापीकरण और मध्यवर्ग के चौतरफ़ा प्रसार के बाद सार्वजनिक जीवन में भागीदारी करने वालों का दायरा बहुत विशाल हो गया है। मतदाता समुदाय और उपभोक्ता समुदाय अलग-अलग नहीं, बल्कि एक दूसरे के पर्याय हैं। रेमंड विलियम्स ने साठ के दशक में दलील दी थी कि मासिज़ नाम की कोई शै नहीं है। यह तो यह एक गढ़त है जिसके तहत लोगों को समरूप और अविभेदित परिघटना के रूप में समझा जाता है। बावजूद इसके कि यह एक गढ़ी गयी संरचना है,

इस हकीकत से इनकार नहीं किया जा सकता कि मासेज़ के दायरे में आने वाले लोग मोटे तौर पर एक ही तरह की फ़िल्में देखते हैं, एक ही मुकाम पर रचे गये रेडियो कार्यक्रमों को सुनते हैं, एक ही ढर्रे के संगीत का आनंद लेते हैं और एक ही तरह की उपभोक्ता वस्तुओं को ख़रीद कर उन्हीं पर आधारित जीवन-शैली को अपनाते हैं।

बाज़ार और मीडिया के ज़रिये सभी को उपलब्ध होने के बावजूद बाज़ारू संस्कृति के आलोचक उसे संस्कृति के लोकतंत्रीकरण का श्रेय देने के लिए तैयार नहीं हैं। अपनी इस आलोचना से बेपरवाह हो कर मास कल्चर ने कुछ ऐसी प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति की है जिनके ज़रिये बाज़ार ख़ुद को लोकप्रिय अभिरुचियों की कसौटी पर कसता है। अमेरिका में जॉर्ज गैलप जैसे तकनीकशाहों ने जनमत सर्वेक्षण के उपकरण का प्रयोग करके उपभोक्ताओं को अपनी पसंद या नापसंद व्यक्त करने का मौक़ा दिया है। गैलप-पोल्स या ऐसे ही अन्य सर्वेक्षणों की विधि अपना पूँजीवादी समाजों की मास-सोसाइटी राजनीतिक और सामाजिक प्रश्नों पर भी अपनी राय जताने लगी है। दूसरी तरफ़ अमेरिका में ही वाल्टर लिपमैन जैसे आलोचकों ने मास-सोसाइटी की परिघटना को पेशेवर-प्रबंधक वर्ग के माध्यम से दिशा देने की वकालत की है। कोलम्बिया विश्वविद्यालय के मीडिया अनुसंधानकर्ताओं की मान्यता है कि मास-सोसाइटी के विकास ने 'ओपीनियन लीडर्स' की एक परम्परा तैयार की है जो मासिज़ को पूँजीवादी लोकतंत्र के हित में सूझ-बूझ के साथ निर्देशित करने की भूमिका निभा रहे हैं।

संस्कृति के विमर्श में मास कल्चर को एक तरफ़ 'फ़ोक' या लोक-संस्कृति से और दूसरी तरफ़ 'उच्च' या शास्त्रीय कला से चुनौती मिलती है। लोक-संस्कृति को जन-साधारण की, कारीगरों की, दस्तकारों की और सामुदायिक कल्पनाशीलता की रचनात्मक 'ऑर्गेनिक' उपलब्धि माना जाता है। लोक-संस्कृति की अवधारणा के तहत प्रायः ग्रामीण या प्राक्-औद्योगिक अतीत को हसरत भरी निगाह से देख कर उस संस्कृति की चर्चा की जाती है जब लोग या तो खेती करते थे या उनकी जीवन-शैली कृषि से जुड़े अन्य उत्पादनों से निर्धारित होती थी। यही उनकी सांस्कृतिक परम्पराओं और मनोरंजन का स्रोत था। समझा जाता है कि उनके गीत-संगीत, मिथकों, लोकोक्तियों और महाकाव्यात्मक दृष्टान्तों का जगत, सामूहिक नृत्य और स्थानीय मेले-ठेले स्थानीय मूल्यों और आदर्शों की प्रामाणिकता से सम्पन्न होते थे।

उच्च या शास्त्रीय कला का विचार उस युरोपियन सांस्कृतिक प्रभुत्व के युग की तरफ़ इशारा करता है जब शेक्सपियर के नाटकों, मोज़ार्ट के संगीत और रिनेसाँ के ज़माने की चित्रकारी को सांस्कृतिक स्तर और मूल्य का प्रतिनिधित्व माना जाता था। कला के इन अभिजन रूपों को

मूल्यवान यह मान कर समझा जाता है कि वे लोगों की बौद्धिकता को मानवीय प्रतिभा की अत्यंत परिष्कृत अभिव्यक्तियों को समझने और सराहने की चुनौती से गुज़ारते हैं। समाज पर पड़ने वाले अभिजन प्रभाव के साथ-साथ स्कूलों और कॉलेजों के पाठ्यक्रमों से यह धारणा बद्धमूल हो गयी है कि इसी 'उच्च' कला का अनुशीलन हमें रोजमर्रा के दोहराव और नीरसताओं के बीच उदात्तता और सौंदर्यमूलक आनंद की अनुभूति करा सकता है। उच्च कला का सांस्कृतिक प्रभुत्व हमें यक्रीन दिलाता है कि शास्त्रीय संगीत, साहित्यिक की श्रेणी में आने वाली कृतियाँ और इन्हीं परम्पराओं से उपजी चाक्षुष व प्रदर्शनकारी कलाएँ हमारे जीवन को उन्नत करती हैं, जबकि कोई सस्ता उपन्यास पढ़ना, एमटीवी का कार्यक्रम देखना, पॉप म्यूज़िक सुनना, या किसी सोप ऑपेरा की अगली कड़ी का इंतज़ार करना अपराध बोध से भरे हुए आनंद का प्रतिनिधित्व करता है। इसके पीछे तर्क यह है कि मास कल्चर के ये रूप बाज़ार में एक निश्चित मूल्य में बेचने के लिए तैयार किये जाते हैं। उनके पीछे मंशा मुनाफ़ा कमाने की होती है। ये कला-रूप सनसनी, पलायन, अश्लीलता और अन्य निम्नतर प्रवृत्तियों का इस्तेमाल करते हैं क्योंकि 'लोकप्रिय' होना उनका पहला उद्देश्य है।

दिलचस्प बात यह है कि मास कल्चर या बाज़ारू कला की यह दोतरफ़ा आलोचना दक्षिणपंथियों द्वारा भी की जाती है और वामपंथियों द्वारा भी। मास कल्चर की आलोचना का तीसरा आयाम फ्रेंकफ़र्ट स्कूल के विद्वानों की देन है जिनका दावा था कि संस्कृति का यह रूप मज़दूर वर्ग की समझ को कुंद और निष्क्रिय कर देता है। बजाय इसके कि संस्कृति पूँजीवाद विरोधी सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक परिवर्तन को बढ़ावा दे, वह उसे मज़बूत करने की भूमिका निभा रही है। थियोडोर एडोर्नो ने पॉप म्यूज़िक का अध्ययन करके निष्कर्ष निकाला कि अमेरिकी संस्कृति उद्योग द्वारा तैयार की गयी सामग्री लोगों को अपने जीवन पर आलोचनात्मक निगाह डालने से रोकती है। वह उन्हें राजनीतिक रूप से उदासीन और चिंतन के धरातल पर निष्क्रिय कर देती है।

देखें : ज्याँ-पाल सार्त्र, टीवी और टीवी अध्ययन, टीवी और सेक्शुअलिटी, टीवी और समाचार, पिएर बोर्दियो, बहुसंस्कृतिवाद, युरोकेंद्रीयता, रोलॉ बार्थ, लुई अलथुसे, संस्कृति, संस्कृति-अध्ययन, संस्कृति : मार्क्सवादी परिप्रेक्ष्य, संस्कृति-उद्योग, सांस्कृतिक साम्राज्यवाद, सोप ओपेरा।

संदर्भ

1. जॉन स्टोरी (2006), *कल्चरल थियरी ऐंड पॉप्युलर कल्चर*, पियर्सन एजुकेशन, लंदन.

2. अनाहिद हैज़ैबियन (1999), 'पाप्युलर', *की टर्म्स इन पाप्युलर म्यूज़िक ऐंड कल्चर*, होर्नर, ब्रूस और स्विंस (सम्पा.), ब्लैकवेल पब्लिशर्स, माल्डेन, मेसाचुसेट्स.
3. जॉन सीब्रुक (2000), *नोब्रो : द कल्चर ऑफ़ मार्केटिंग द मार्केटिंग ऑफ़ कल्चर*, ए.ए. नॉफ़, न्यूयॉर्क.
4. रेमण्ड विलियम्स (1885), *कीवर्ड्स : ए वाकैबुलरी ऑफ़ कल्चर ऐंड सोसाइटी*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

— अभय कुमार दुबे

बाज़ार-समाजवाद

(Market Socialism)

मार्क्सवादी अर्थशास्त्र संसाधनों के आबंटन के सवाल पर बाज़ार के 'अदृश्य हाथ' की जगह नियोजन के 'दृश्य हाथ' के पक्ष में रहा है। 1917 की रूसी क्रांति के बाद बीस के दशक में लेनिन ने नयी अर्थनीति के तहत बाज़ार के उपादान का सहारा लिया था, लेकिन तब बोलशेविकों को तर्क था कि उत्पादक शक्तियों के विकास में कमी के कारण अस्थाई रूप से ऐसा करना पड़ रहा है। बोलशेविकों के विपरीत मार्क्सवाद की सामाजिक-जनवादी शाखा ने इसी दौरान काउत्सकी के नेतृत्व में समाजवादी अर्थतंत्र के तहत बाज़ार की प्रासंगिकता को स्वीकार किया। लेकिन जो सोवियत संघ में हो रहा था, वही दुनिया भर के मार्क्सवादियों के लिए मानक बनता चला गया। सोवियत अर्थव्यवस्था की शुरुआती सफलताओं ने भी नियोजन बनाम बाज़ार के वैचारिक द्विभाजन को मज़बूत किया। लेकिन व्यावहारिक कारणों से साठ के दशक के बाद पूर्वी युरोपीय समाजवादी राज्यों ने अपनी अर्थव्यवस्थाओं के समाजवादी प्रारूप में बाज़ार के पहलुओं का सचेत समावेश करने की शुरुआत करनी पड़ी।

धीरे-धीरे करके समाजवादी अर्थशास्त्री इस विचार का सूत्रीकरण करने लगे। उन्हें सैद्धांतिक मसाला तीस के दशक में ऑस्कर लांगे और फ्रेड्रिख हायक के बीच हुई बहस से मिला। यह विवाद 1920 में प्रकाशित एल. वॉन माइज़िज़ के लेख 'इकॉनॉमिक केलकुलेशन इन अ सोशलिस्ट कम्युनिटी' के पुनः प्रकाशन के बाद शुरु हुआ था। बहस इस बात पर थी कि क्या समाजवादी व्यवस्था में बुद्धिसंगत गणना के जरिये विलफ्रेडो परेटो द्वारा प्रतिपादित बाज़ार की अनुकूलतम परिस्थिति हासिल की जा सकती है। लांगे का तर्क था कि एक केंद्रीकृत नियोजन परिषद् दाम, मज़दूरी, ब्याज दर, माँग व आपूर्ति का संतुलन का निर्धारण कर सकता है। हायक यह

मानने के लिए तैयार नहीं थे कि बाज़ार के अलावा यह भूमिका कोई और निभा सकता है। लांगे का तर्क एक तरह के 'प्रतियोगितामूलक समाजवाद' की तरफ़ इशारा कर रहा था।

विरोधाभासी लगने वाली इस अवधारणा का मतलब है अर्थव्यवस्था का एक ऐसा मॉडल जिसमें उत्पादन के साधनों पर सामूहिक और सरकारी स्वामित्व हो, लेकिन संसाधनों का आबंटन बाज़ार के हवाले कर दिया गया हो। मोटे तौर पर बाज़ार-समाजवाद का मौजूदा सिद्धांत कम्युनिस्ट पार्टियों द्वारा शासित देशों के उन प्रयासों का नतीजा है जिनके तहत केंद्रीकृत नियोजन के ढाँचे से हट कर बाज़ार और समाजवाद का मेल बैठाया गया था। इसकी शुरुआत सबसे पहले पचास के दशक में टीटो के नेतृत्व में युगोस्लाविया में की गयी। 1968 के बाद हंगरी में इसे अपनाया गया। अस्सी के दशक में चीन, सोवियत संघ, बल्गेरिया और पोलैण्ड ने भी यह प्रयोग किया। यह दूसरी बात है कि सभी देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों ने इन कोशिशों को बाज़ार-समाजवाद का नाम नहीं दिया। विचारधारात्मक कारणों से इसे 'सोशलिस्ट मार्केट' भी कहा गया। चीन में यह कोशिश अब भी जारी है, लेकिन उसमें समाजवाद के पहलू लगातार कम होते जा रहे हैं और बाज़ार के आयामों को बोलबाला बढ़ता जा रहा है। बाक़ी समाजवादी राज्यों का वजूद ख़त्म हो चुका है।

बाज़ार-समाजवाद के सिद्धांत का पहला प्रयोग पचास के दशक की शुरुआत में युगोस्लाविया में हुआ जब उसके नेता मार्शल टीटो कई तरह के मतभेदों के कारण सोवियत नेता स्तालिन से अलग हो गये। युगोस्लावियायी कम्युनिस्ट पार्टी स्तालिनवाद के मुकाबले अपनी विचारधारात्मक वैधता स्थापित करना चाहती थी। साथ में वह अर्थतंत्र को अधिक कुशल और दक्ष बनाने की कोशिश भी कर रही थी। उसने यह आर्थिक दक्षता प्लानिंग बोर्ड के केंद्रीकृत निर्देशों के बजाय स्व-प्रबंधन और स्वायत्तता का उसूल लागू करके प्राप्त करने की योजना बनायी। युगोस्लाविया द्वारा अर्थतंत्र में किया गया यह परिवर्तन समाजवादी देशों द्वारा हाथों-हाथ नहीं लिया गया।

लेकिन स्तालिन की मृत्यु के बाद कई समाजवादी देशों ने महसूस किया कि अर्थव्यवस्था का सोवियत मॉडल अनुकूल परिणाम नहीं दे पा रहा है। इसलिए 1956-57 में पोलैण्ड की कम्युनिस्ट पार्टी अर्थतंत्र में प्रणालीगत परिवर्तन करने की विस्तृत योजना के साथ सामने आयी। 1956 में इसी से मिलते-जुलते विचारों के इर्द-गिर्द हंगरी में लोकप्रिय जन-उभार हुआ जिसे सोवियत संघ द्वारा कुचल दिया गया। लेकिन इस उतार-चढ़ाव के बावजूद परिवर्तन की प्रक्रिया जारी रही और पूर्वी युरोप ने साठ के दशक में बाज़ार-समाजवाद की दिशा में क्रदम बढ़ा दिये। 1958 से 1967-68 के बीच चेकोस्लोवाकिया में और 1963 में जर्मन

जनवादी गणराज्य (पूर्वी जर्मनी) ने इसी तरह के सुधार किये। 1965 में सोवियत संघ में कोसिगिन के निर्देशों के तले यही क्रदम उठाए गये जिनकी नक़ल में बल्गेरिया ने भी ऐसा ही किया। 1968 में हंगरी में नया आर्थिक तंत्र (न्यू इकॉनॉमिक मैकेनिज़म) क्रायम किया गया और पोलैण्ड में अर्थतंत्र को सुधारने की कोशिशें जारी रहीं।

समाजवाद में बाज़ार आधारित सुधार करने में आयी दिक्कतें कुछ इस तरह की थीं : हुकूमत में जमे हुए राजनीतिक अभिजनों का राजनीतिक प्रतिरोध, प्रशासनिक ढाँचे के निहित स्वार्थ, नौकरियाँ खो देने के भय से मजदूरों के एक वर्ग का विरोध, नियोजन-प्रबंधन-स्वामित्व-पार्टी वर्चस्व के मौजूदा ढाँचे पर नये सुधारों को आरोपित करने से जुड़ी व्यावहारिक दिक्कतें। नतीजा यह हुआ कि युगोस्लाविया, पोलैण्ड और हंगरी की स्थिति सुधारों के बावजूद सुधारों को न अपनाने वाले समाजवादी देशों से भी गयी-गुज़री हो गयी।

अस्सी के दशक तक इन तमाम प्रयोगों का लुब्बोलुवाब यह निकला कि केवल हंगरी का नया आर्थिक तंत्र ही कुछ-कुछ कारगर दिखाई दे रहा था। बाक़ी सभी कोशिशें केंद्रीकृत नियोजन के आदेशात्मक ढाँचे में थोड़े-बहुत संशोधन करके बेकार साबित हो चुकी थीं। लेकिन इस समय तक समाजवादी ख़ेमे की समझ में आ चुका था कि अगर उन्होंने समय रहते ख़ुद को नहीं बदला तो फिर उनके सामने मौक़ा नहीं रह जाएगा। चीन ने 1978-79 में रैडिकल आर्थिक सुधारों का रास्ता पकड़ा और फिर पीछे मुड़ कर नहीं देखा। पूँजीवादी हो जाने की तोहमत से बचने के लिए चीनियों ने अपने प्रयासों को 'चीनी लक्षणों वाला समाजवाद' करार दिया। 1985 के बाद गोर्बाचेव के सोवियत संघ ने पेरेस्ट्रोइका के नाम से समाजवादी अर्थतंत्र में बुनियादी परिवर्तन करने की मुहिम चलायी। बाज़ार-समाजवाद का पहला ढाँचा नाकाम हो जाने के बाद दूसरे दौर में समाजवादी देशों ने पूँजी बाज़ारों (बैंक और शेयर बाज़ार समेत) की ज़रूरत महसूस की। स्वामित्व की संरचनाओं में तब्दीली करने के बारे में सोचा गया।

1989 में पूर्वी युरोप में कम्युनिस्ट सत्ता के ढह जाने के साथ ही बाज़ार-समाजवाद का प्रयोग भी समाप्त हो गया। अब ये सारे देश पूँजीवादी अर्थतंत्र की ओर क्रदम बढ़ाने में लगे हुए हैं। लेकिन उनकी अर्थव्यवस्थाओं में आज भी पब्लिक सेक्टर की अच्छी-खासी मौजूदगी है जिसे बाज़ार-समाजवाद का बचा-खुचा रूप कहा जा सकता है।

देखें : अर्थ-विज्ञान का समाजशास्त्र, आर्थिक जनसांख्यिकी, अल्फ्रेड मार्शल, अमर्त्य कुमार सेन, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, ऐडम स्मिथ, करारोपण, कल्याणकारी अर्थशास्त्र, क्लासिकल अर्थशास्त्र, कार्ल हाइनरिख

मार्क्स-3, कार्ल मेंगर, कींसियन अर्थशास्त्र, गुन्नार मिर्डाल, जोआन रोबिंसन, जॉन कैनेथ गालब्रेथ, जॉन मेनार्ड कोस, जॉन स्टुअर्ट मिल, जोसेफ़ शुमपीटर, जैव विविधता, ट्रस्टीशिप, डेविड रिकार्डो, ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम, थॉमस मन और वणिकवाद, थॉमस रॉबर्ट माल्थस, दक्षता, धन, नियोक्तासिकल अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र, निकोलस काल्दोर, नियोजन, नियोजन : मार्क्सवादी विमर्श, पण्य, पण्य-पूजा, पेटेंट, पॉल सेमुअलसन, पियरो साफ़ा, पूँजी, प्रतियोगिता, फ्रांस्वा केस्ने और प्रकृतिवाद, फ्रेड्रिख वॉन हायक, बहुराष्ट्रीय निगम, बाज़ार, बाज़ार की विफलताएँ, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, भारत में बहुराष्ट्रीय निगम, भारत में नियोजन, भारत में पेटेंट कानून, भारत में शेर्य संस्कृति, भूमण्डलीकरण और पूँजी बाज़ार, भूमण्डलीकरण और वित्तीय पूँजी, भूमण्डलीकरण और वित्तीय उपकरण, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, मिल्टन फ्रीडमैन, मूल्य, राजकोषीय नीति और मौद्रिक नीति, रॉबर्ट ओवेन, विलफ्रेडो परेटो, विश्व व्यापार संगठन, विश्व बैंक, विलियम पेटी, विलियम स्टेनली जेवंस, वैकासिक अर्थशास्त्र, शोषण, साइमन कुज़नेत्स।

संदर्भ

1. ए. नोव (1983), *द इकॉनॉमिक्स ऑफ़ फीजिबिल सोशलिज़्म*, एलेन ऐंड अनविन, लंदन.
2. डी. मिलर (1989), *मार्केट, स्टेट ऐंड कम्युनिटी : थियरेटिकल फ़ाउंडेशन ऑफ़ मार्केट सोशलिज़्म*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.
3. ऑस्कर लांगे (1964), 'ऑन द इकॉनॉमिक थियरी ऑफ़ अ सोशलिस्ट इकॉनॉमी', संकलित : लांगे और टेलर, *ऑन द इकॉनॉमिक थियरी ऑफ़ सोशलिज़्म*, बी. लिपिनकॉट (सम्पा.), मैकग्रा हिल, न्यूयॉर्क.
4. एल. वॉन माइज़िज़ (1935), 'इकॉनॉमिक केलकुलेशन इन अ सोशलिस्ट कम्युनिटी', संकलित : एफ़ ए. वॉन हायक (सम्पा.), *क्लेक्टिविस्ट इकॉनॉमिक प्लानिंग*, लंदन.

— अभय कुमार दुबे

बादरायण

(Badrayan)

ईसा पूर्व चौथी शताब्दी से लेकर दूसरी शताब्दी के बीच कभी सक्रिय रहे दार्शनिक बादरायण को वेदांत दर्शन की प्रस्थापना का श्रेय दिया जाता है। बादरायण ने अपने भाष्य *ब्रह्मसूत्र* के ज़रिये उपनिषदों की विसंगतियों का समाधान करके एक सामंजस्यपूर्ण और एकीकृत आदर्शवादी दार्शनिक प्रणाली का निर्माण किया। बौद्ध और जैन ग्रंथों में इस बात का प्रमाण मिलता है कि वेदांत एक दर्शन के रूप में ईसा पूर्व सातवीं या छठी शताब्दी में मौजूद था। इस दार्शनिक विचारधारा का

भौतिकवादियों, बौद्धों और जैनों ने घोर विरोध व खण्डन किया। इसके कई शताब्दियों बाद जा कर बादरायण ने अपने भाष्य के ज़रिये वेदांत की प्रस्थापना की तथा 552 सूत्रों में इस दर्शन को समाहित कर दिया। कुछ आदर्शवादी विचारकों का मानना है कि *ब्रह्मसूत्र* और उपनिषदों की शिक्षाएँ एक ही हैं। लेकिन उपनिषदों में आदर्शवादी और भौतिकवादी दोनों तरह की परस्पर विरोधी अवधारणाएँ मिलती हैं। बादरायण का प्रयास इन अंतर्विरोधों को समाप्त करना नहीं बल्कि उपनिषदों में बिखरी आदर्शवादी प्रवृत्तियों को एक जगह ला कर सुसंबद्ध दर्शन का निर्माण करना था। अगर एलबर्ट श्वाइत्ज़र के शब्दों में कहा जाए तो *ब्रह्मसूत्र* 'ब्राह्मणवादी पण्डित्य का केवल आरम्भ बिंदु था।' आगे चल कर इसे पल्लवित करने का श्रेय शंकराचार्य, रामानुज, मध्वाचार्य तथा अन्य प्रसिद्ध दार्शनिकों को जाता है। *ब्रह्मसूत्र* को *वेदांत सूत्र* के नाम से भी जाना जाता है। कुछ जगहों पर इसे *शरीरका सूत्र* की संज्ञा भी दी गयी है, क्योंकि यह ब्रह्म के मूर्तिमान होने की स्थापना करता है।

कुछ विद्वान वेदों और महाभारत का सम्पादन करने वाले वेदव्यास को ही बादरायण मानते हैं। वेदांत का अर्थ है वेदों का अंत। उपनिषदों तक आते-आते लगभग सारे वेद लिख लिये गये थे। वैदिक युग के अंतिम साहित्य की संज्ञा पाने वाले उपनिषदों को भिन्न-भिन्न अर्थों में वेद का अंत कहा जा सकता है। अध्ययनों के विचार से भी इनका क्रम बाद में आता था। लोग सामान्यतः संहिता से शुरू करते थे। गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने पर गृहस्थोचित यज्ञादि करने के लिए 'ब्राह्मण' की आवश्यकता होती थी और वानप्रस्थ या संन्यास लेने पर 'अरण्यक' की। उपनिषदों का विकास अरण्यक साहित्य से ही हुआ। उपनिषदों को वेदांत कहने का सबसे बड़ा कारण एक और कारण यह भी है कि वेदों में निहित विचारों का परिपक्व रूप उन्हीं में मिलता है। स्वयं उपनिषदों में ही कहा गया है कि वेद-वेदांग आदि सभी शास्त्रों का अध्ययन कर लेने पर भी मनुष्य का ज्ञान तब तक पूर्ण नहीं होता जब तक वह उपनिषदों की शिक्षा प्राप्त नहीं कर लेता।

भिन्न-भिन्न वैदिक शाखाओं में भिन्न-भिन्न उपनिषद् विभिन्न कालखण्डों और स्थानों में रचे गये। हालाँकि उन सभी में मूलतः विचार सादृश्य है, फिर भी भिन्न-भिन्न उपनिषदों में जो प्रश्न विवेचित हैं और उनके जो समाधान दिये गये हैं उनमें विभिन्नता भी पायी जाती है। ये विभिन्नताएँ ऐसी हैं कि कहीं-कहीं तो एक ही उपनिषद् में परस्पर विरोधी बातें कही गयी हैं। इसलिए कालांतर में यह समझा गया कि उपनिषदों की भिन्नताओं के बजाय उनके सर्व-सम्मत उपदेशों का संकलन किया जाए। बादरायण ने इन्हीं उद्देश्यों से प्रेरित होकर *ब्रह्मसूत्र* की रचना की। इसे वेदांतसूत्र,

शारीरक सूत्र, शारीरक मीमांसा या उत्तर-मीमांसा भी कहा गया। *ब्रह्मसूत्र* के चार अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं। प्रथम अध्याय में ब्रह्म विषयक समस्त वेदांत वाक्यों का समन्वय, और द्वितीय में उन वाक्यों के तर्क के स्मृति आदि से अविरोध प्रदर्शित किया गया है। तृतीय अध्याय में वेदांत के विभिन्न साधनों पर और चतुर्थ में उनके फल के विषय में विचार है।

बादरायण ने अपने वेदांत सिद्धांत में इस बात पर बल दिया कि चेतना या आत्मा ही हर वस्तु का मूल कारण है और अंततः हर वस्तु उसमें ही विलीन हो जाती है। उन्होंने *ब्रह्मसूत्र* में बताया कि ब्रह्म ही परमतत्त्व है और प्रकृति में गति का वही आद्य कारण है। उन्होंने अपने वेदांत निरूपण को परमतत्त्व अथवा ब्रह्म के स्वरूप की जिज्ञासा बताया है। वेदांत का मानना है कि अचेतन पदार्थ में ज्ञान की निर्देशक क्रिया होने से वह सक्रिय होता है। अतः आद्य कारण ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। *ब्रह्मसूत्र* की परिभाषा के अनुसार जिससे इस विश्व के जन्म आदि (जीवन और मरण) हैं, वही ब्रह्म है। इसी तरह का सूत्र वाक्य तैत्तरीय उपनिषद् में भी पाया जाता है जिसमें कहा गया है— 'वह जिससे ये प्राणी जन्म लेते हैं, वह जिससे जन्म लेने के बाद वे जीवित रहते हैं, वह जिसमें जीवन समाप्त होने पर वे लीन हो जाते हैं— उसे ही जानने का प्रयत्न करो। वही ब्रह्म है।'

इस परिभाषा के बाद बादरायण विभिन्न तर्कों द्वारा यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि इस जगत का कारण चेतन यथार्थ है और इसे अचेतन प्रधान, अथवा सांख्य प्रणाली में वर्णित अविकसित पदार्थ से समेकित नहीं किया जा सकता। ब्रह्म ही चेतन बुद्धितत्त्व है। उसका सभी अस्तित्वमय वस्तुओं में बहुत गहरे निवास है। वह ब्रह्माण्ड में समाया हुआ और उसे नियंत्रित करता है। वह सर्वत्र व्याप्त अपरिमित चेतना है और उसकी सभी वस्तुएँ प्रकाशित हैं। सांख्य दर्शन के विपरीत वेदांत मानव आत्मा को निष्क्रिय न मान कर सक्रिय मानता है। जिस प्रकार अग्नि का एक स्फुलिंग अग्नि का एक अंश है उसी प्रकार मानव आत्मा भी ब्रह्म का अंश है। सर्वोच्च सत्ता सर्वज्ञ है, सर्वव्यापी है और आनंदमय है। वही ज्योति है, वही प्राण है। वही सृष्टि है, वही स्रष्टा है। वह सच्चिदानंद है। उसका न कोई आदि है और न अंत है। वह सम्पूर्ण है, निराकार है, निर्गुण है, निष्कर्म है, निष्कलंक है, निर्लेप है। वह शाश्वत है, सर्वज्ञ है, सर्वव्यापी है, सदा संतुष्ट है, सदा पवित्र है, ज्ञान से पूर्ण है और स्वतंत्र है। वहीं विवेक है, वहीं आनंद है।

ब्रह्मसूत्र के अंग्रेजी अनुवादक मोनियर विलियम्स की मान्यता है कि विशुद्ध आत्मा को विशुद्ध शून्य के समान करार देने से बौद्धों का शून्यवाद और वेदांतियों का एकेश्वरवाद अंत में एक-दूसरे से मिलते प्रतीत होते हैं। ब्रह्म ही इस

ब्रह्माण्ड का भौतिक और समर्थ कारण है। बादरायण ने यह कह कर कि वर्तमान ज्ञान ही ब्रह्म के अस्तित्व के यथार्थ को प्रकट करता है, घोषित किया कि समस्त जगत ब्रह्म की रचना है। ब्रह्म स्वयं अपनी इच्छा और प्रयत्न से कार्य करता है। इस जगत में तमाम कारणों और प्रभावों का क्रम उसकी इच्छा की अभिव्यक्ति है। जीवन में जो दुःख और क्लेश हैं, वे ब्रह्म के आनंदमय स्वरूप का निषेध नहीं करते। दुःख नहीं बल्कि सुख ही सृष्टि का सार है। प्रत्येक का अंतिम लक्ष्य एक ही है क्योंकि कि ब्रह्म ही वह जाज्वल्यमान जीवंत शक्ति है, जो सभी मनुष्यों के हृदयों को आंदोलित करती है। जिस प्रकार मकड़ा अपने अंतर्वस्तु से जाल बुनता है उसी तरह से ब्रह्म सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का भौतिक तथा सक्षम कारण माना जाता है। *ब्रह्मसूत्र* उपनिषदों के इस बात पर जोर देता है कि आत्मा ही स्वयं परमात्मा है और यह ब्रह्माण्ड उसी पदार्थ से उत्पन्न हुआ है जिससे ब्रह्म।

बादरायण कहते हैं कि सृष्टि और सृष्टिकर्ता दोनों एक हैं। ब्रह्म ही प्रकृति भी है। अपने से संबंधित क्रिया के कारण वह अपना रूप बदल देता है और ब्रह्माण्ड बन जाता है। भौतिक तत्त्वों में ब्रह्म के इस उपांतरण का उपनिषदों में भी उल्लेख मिलता है। यदि ब्रह्म ही प्रकृति है या इस ब्रह्माण्ड का मूल पदार्थ है और यदि ब्रह्म, जगत और परमात्मा एक ही हैं तो इसका अर्थ यह हुआ कि इस जगत से परे कोई दूसरा चेतन तत्त्व नहीं है, और यह भी कि पदार्थ और आत्मा, प्रकृति और ब्रह्म, दोनों एक ही हैं— दोनों यथार्थ हैं। इस प्रकार बादरायण का वेदांत इस जगत के यथार्थ को स्वीकार करता है। वह माया तथा मिथ्या के सिद्धांत का प्रतिपादन करने वाले बाद के वेदांतियों के समान जगत का पूर्णतः निषेध करता हुआ उतना नहीं भटकता जितना बाद के कुछ भाष्यकारों द्वारा उसे सूक्ष्म की ओर उसे भटकाया गया। कोलब्रुक का कहना है कि 'यह धारणा कि यह वैचित्र्यमय जगत केवल माया है, कि जाग्रत व्यक्ति अपने चारों ओर जो कुछ देखता है वह उसकी कल्पना का एक भ्रम मात्र है, कि प्रत्येक संवेदनशील वस्तु अवास्तविक है और सब कुछ एक दृश्य-भ्रम मात्र है— यह वेदांत का मूल सिद्धांत प्रतीत नहीं होता।'

ऐसा माना जाता है कि बादरायण द्वारा *ब्रह्मसूत्र* की रचना कणाद और कपिल जैसे भौतिकवादी दार्शनिकों और बुद्ध और महावीर जैसे तर्कबुद्धिवादियों के विचारों का खण्डन करने के लिए की गयी होगी। इसके बावजूद वेदांत दर्शन संबंधी आदर्शवाद जनता के बीच भौतिकवादी तथा तर्कबुद्धिपरक विचारों का प्रसार रोकने में सफल नहीं हो पाया। सांख्य, वैशेषिक और न्याय दर्शन के भौतिकवादी सिद्धांतों के अनुसार पदार्थ मूलभूत तत्त्व है तथा विचार, चेतना इत्यादि उसके बाद आते हैं। भौतिक जगत और प्रकृति के

नियम मानव चेतना से स्वतंत्र हैं। सांख्य दर्शन के अनुसार यह जगत प्रधान अथवा प्रकृति के रूपांतरण का परिणाम है इसके परे कोई ऐसा बाह्य तत्त्व मौजूद नहीं जो प्रधान को क्रियाशीलता के लिए प्रेरित करे या उसे क्रियाशीलता से रोके। इसी प्रकार वैशेषिक का मत है कि परमाणु नामक सूक्ष्मतम अणुओं के सम्मिश्रण से जगत का निर्माण हुआ।

इस विवेचना से हटते हुए वेदांत ने स्थापित किया कि आत्मा प्राथमिक है और पदार्थ गौण अथवा उससे जन्य है। वेदांत ने उन सिद्धांतों को अस्वीकार किया जो इस जगत को या तो उन विभिन्न तत्त्वों के संयोग का परिणाम मानते थे जो अनेकानेक वस्तुओं को जन्म देते हैं अथवा जो कहते थे कि तीन गुणों से युक्त अचेतन प्रकृति को रूपांतरण के लिए किसी अचेतन आत्मा की प्रेरणा की आवश्यकता नहीं रहती। सांख्य दार्शनिकों की मान्यता है कि जैसे बछड़े को पालने के लिए गाय के थन से स्वतः ही निश्चेतन दूध बहता है, उसी प्रकार अचेतन प्रकृति स्वयं अपने स्वभाव से क्रियाशील हुई; और जैसे घास, पत्तियाँ, पानी इत्यादि दूध तथा अन्य पदार्थों में बदल जाते हैं उसी प्रकार प्रकृति भी बिना किसी उपकरण के स्वमेव रूपांतरित हुई। ब्रह्मसूत्र में बादरायण ने इसका उत्तर दिया कि प्रकृति में गति किसी चेतन शक्ति के बिना हो ही नहीं सकती। यह भी नहीं कहा जा सकता कि घास-फूस की तरह (जो दूध में बदल जाती है) प्रकृति अपने को स्वमेव बदल देती है; कारण यह कि दूध मादा पशुओं को छोड़ कर कहीं अन्य नहीं होता। उन्होंने दावा किया कि चेतन शक्ति, जो सभी प्राणमय वस्तुओं में बहुत गहरे निहित होती है तथा जो इस ब्रह्माण्ड का संचालन करती है, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ और चेतन ब्रह्म है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि मानवीय इंद्रिय जगत के अनुभवों में अंतर्निहित गहन रहस्य की खोज करने के लिए वेदांत एक आदर्शवादी प्रयत्न था। इस प्रत्यक्ष जगत के पीछे छिपे परम सत्य का ज्ञान ही सर्वोच्च ज्ञान माना जाता था, जिसके माध्यम से मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता है। वेदांत ने कहा कि वे 'स्वयं प्रकाशमान सत्य के समान ज्ञानमय, आनन्दमय, निकारार, इंद्रियजनित, निराभिमान, निरहंकार हो जाते हैं,' और 'वे चाहे जिस रूप में ब्रह्म का चिंतन करें वे स्वयं ब्रह्म बन जाते हैं।' ब्रह्म बन कर वे ब्रह्म को प्राप्त कर सकते हैं।

देखें : आर्यभट्ट और *आर्यभटीय*, उपनिषद्, कपिल, *अर्थशास्त्र* और कौटिल्य, गोपीनाथ कविराज, गोविंद चंद्र पाण्डे, चैतन्य महाप्रभु, जैन दर्शन, न्याय दर्शन, दया कृष्ण, नंद किशोर देवराज, न्याय दर्शन, नागार्जुन, पतंजलि और *योगसूत्र*, पाणिनि और *अष्टाध्यायी*, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, पुराण, पूर्व-मीमांसा दर्शन, बदरी नाथ शुक्ल, बौद्ध दर्शन, *भगवद्गीता*, भरत और *नाट्यशास्त्र*, मुकुंद लाठ, *भागवत पुराण*, *महाभारत*, यशदेव शल्य, योग दर्शन, रामानुजाचार्य, लोकायत, वात्स्यायन और *क्रामसूत्र*, वेदांत दर्शन, वैशेषिक दर्शन, शंकराचार्य, षड्-दर्शन-1 और 2, संस्कृत काव्यशास्त्र, स्मृति-साहित्य, सांख्य दर्शन-1 और 2, सिद्ध-नाथ परम्परा।

संदर्भ

1. बादरायण (1960), *द ब्रह्मसूत्र*, सम्पादन और अनुवाद : एस. राधाकृष्णन, ऐलेन ऐंड अनविन, लंदन.
2. सर्वपल्ली राधाकृष्ण (2012), *भारतीय दर्शन*, खण्ड 2, अध्याय 7, राजपाल ऐंड संस, नयी दिल्ली.
3. के. दामोदरन (1982), *भारतीय चिंतन परम्परा*, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.
4. सतीशचंद्र चट्टोपाध्याय और धीरेंद्र मोहन दत्त, *भारतीय दर्शन*, पुस्तक भंडार, पटना.

— अजय कुमार पाण्डेय

बाल गंगाधर तिलक

(Bal Gangadhar Tilak)

सांस्कृतिक राष्ट्रवादी, समाज-सुधारक, पत्रकार और आधुनिकीकरण की आवश्यकताओं के अनुरूप पारम्परिक भारतीय मेधा का भाष्य करने वाले बाल गंगाधर तिलक (1856-1920) उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन के पहले जन-नेता थे। लोकमान्य के संबोधन से विख्यात तिलक की राजनीति ने किसानों, मजदूरों और मध्य-वर्गों को ब्रिटिश विरोधी आंदोलन में उतार कर उन परम्पराओं का सूत्रपात किया जिनके आधार पर कांग्रेस आगे चल कर गाँधी के नेतृत्व में राष्ट्रीय स्वतंत्रता की वाहक बनी। 'स्वराज्य मेरा जन्म सिद्ध अधिकार है और मैं इसे ले कर रहूँगा' जैसा अविस्मरणीय नारा देने वाले तिलक को अंग्रेज़ 'फ़ादर ऑफ़ इण्डियन अनरेस्ट' कहते थे। राजद्रोह के आरोप में दो बार कड़े कारावास की सज़ा भुगतने वाले तिलक ने जेल में ही अपना विख्यात ग्रंथ *गीता रहस्य* लिखा। गणपति और शिवाजी महोत्सवों का विस्तार करके उन्होंने उसे राष्ट्रवादी रूप दिया। इसके ज़रिये की गयी सामाजिक गोलबंदी से तिलक ने द्विजों और शूद्र जातियों के बीच अलगाव ख़त्म करने की ज़मीन तैयार की। उन्होंने कांग्रेस को शांतिपूर्ण प्रतिरोध की राह पर चलाने का आग्रह करते हुए लाला लाजपत राय और विपिन चंद्र पाल के साथ मिल कर बंगाल विभाजन का विरोध करने के लिए स्वराज, स्वदेशी, राष्ट्रीय शिक्षण और बहिष्कार का चार सूत्रीय कार्यक्रम पेश किया।

13 जुलाई, 1856 को रत्नागिरि ज़िले के एक ख़ुशहाल मध्यवर्गीय चितपावन ब्राह्मण परिवार में जन्मे बाल गंगाधर तिलक को अपने पिता से संस्कृत की शिक्षा के साथ-साथ धर्म-परम्परा का आदर घुट्टी में मिला। पुणे के डेकन कॉलेज से स्नातक बनने के बाद तिलक न्यू इंग्लिश स्कूल में अध्यापन



बाल गंगाधर तिलक (1856-1920)

करने लगे। सरकारी हलकों में फैले भ्रष्टाचार के प्रति क्षोभ ने उन्हें सामाजिक कार्य में उतारा। मराठी में *क्रेसरी* और अंग्रेजी में *मराठा* नामक अखबार निकाल कर तिलक ने पत्रकारिता को अपने विचारों और जन-चेतना के उत्थान का वाहक बनाया। वे पुणे के फ़र्ग्युसन कॉलेज में गणित के प्राध्यापक भी रहे।

समाज-सुधार को स्वराज की शर्त मानने से इनकार करते हुए तिलक ने हिंदू समाज के रीति-रिवाजों में औपनिवेशिक प्रशासन के हस्तक्षेप का विरोध किया, और डायरेक्ट एक्शन की पैरोकारी करके गोखले के नरम दली नेतृत्व के खिलाफ़ कांग्रेस के गरम दल की अगुआई की। इससे पार्टी में विभाजन हो गया। लेकिन 1915 में गोखले की मृत्यु के बाद वे एक बार फिर कांग्रेस में लौटे और ऐनी बेसेंट के साथ मिल कर होम रूल लीग की स्थापना की। हालाँकि तिलक अहिंसा को अनिवार्य विचारधारा की तरह अपनाने के पक्ष में नहीं थे, पर गाँधी की नेतृत्वकारी क्षमताओं को उन्होंने सकारात्मक दृष्टि से देखा। गाँधी को उनका व्यक्तित्व सागर की तरह अथाह लगता था।

पश्चिमी सभ्यता, पश्चिमी चिंतन और शिक्षा को भारत के लिए अनुपयुक्त मानने वाले तिलक ने अपने सामाजिक और राजनीतिक विचारों को गीता, वेद, अर्थशास्त्र और

शुक्रनीति जैसे ग्रंथों पर आधारित किया, लेकिन इसका मतलब यह नहीं था कि वे ब्रिटिश शासन की उपयोगिता पूरी तरह से खारिज करते थे। उनकी मान्यता थी कि अंग्रेजी हुकूमत की वजह से भारत का राजनीतिक और प्रशासनिक एकीकरण हुआ है। गोखले के नरमदली नेतृत्व के खिलाफ़ संघर्ष करने और स्वराज्य को अपना जन्मसिद्ध अधिकार बताने के बावजूद तिलक ने 1907 में ही स्पष्ट कर दिया था कि उनका तात्पर्य स्व-शासन से है और वे ब्रिटिश साम्राज्य से रिश्ता तोड़ने की वकालत नहीं कर रहे हैं। उनकी मान्यता थी कि जनता की राजनीतिक चेतना में हुई बढ़ोतरी ब्रिटिश शासन का ही परिणाम है।

हिंदू मुहावरे का इस्तेमाल और हिंदू धर्मग्रंथों से प्रेरणा लेने के बावजूद तिलक राजनीतिक जीवन में पूरी तरह से बुद्धिवाद और वैज्ञानिक चिंतन के तरफ़दार थे। उनकी गिरफ्तारी के खिलाफ़ हुई मज़दूर हड़ताल में मुम्बई के हिंदुओं और मुसलमानों ने मिल कर भाग लिया था। उन्नीसवीं सदी के आखिर में आये दो फ़ैक्ट्री एक्टों का विरोध करके तिलक ने मज़दूरों की हमदर्दी जीत ली थी। मज़दूर कार्रवाई का यह प्रकरण इस लिहाज़ से ऐतिहासिक है कि 1908 में 24 जून से 23 जुलाई तक तिलक पर मुकदमा चला और उस दौरान लगातार हड़तालें होती रहीं। 23 को जब तिलक छह साल के लिए बर्मा के माँडले जेल भेजे गये तो एक लाख मज़दूरों और जनता के अन्य तबकों ने मिल कर पूरे मुम्बई को ठप्प कर दिया। अगले दिन से महानगर की सारी मिलें छह दिन के लिए बंद हो गयीं। इसके बाद हर साल (जब तक तिलक रिहा हो कर वापस नहीं आ गये) मज़दूर 23 जुलाई को हड़ताल करते रहे। हिंदू-राष्ट्रवादी तिलक को अपने पुरोधा की तरह पेश करते हैं, पर असलियत यह थी 1918 में कांग्रेस और खिलाफ़त आंदोलन के बीच समझौते की तजवीज़ पहली बार तिलक ने ही की थी। अपने खिलाफ़ चले राजद्रोह के मुक़दमे में उन्होंने जिन्ना को अपना वकील बनाया था। तिलक के विचारों को समझने के लिए उनकी स्वराज्य और राष्ट्रवाद संबंधी अवधारणाओं और शांतिपूर्ण प्रतिरोध के सिद्धांत पर गौर किया जा सकता है।

स्वराज्य को परिभाषित करने के मामले में तिलक दादाभाई नौरोज़ी के इस तर्क से सहमत थे कि उसकी माँग को सु-राज्य के नाम पर नहीं छोड़ा जा सकता। सु-राज्य तो होना ही चाहिए, ज़रूरी यह भी है कि शासक और जनता एक ही देश के हों। उनकी स्वराज्य की धारणा का सबसे मज़बूत पहलू था निर्वाचित और उत्तरदायी सरकार। तिलक का राष्ट्रवाद मानवता की आध्यात्मिक एकता के वेदांती आदर्श के साथ-साथ मेज़िनी, बर्क और मिल के विचारों से निकली राष्ट्रीयता की धारणा का मिला-जुला रूप था। उन्होंने मध्ययुगीन अतीत से शिवाजी और अक़बर की मिसालें लीं

और उन्हें बेहतरीन शासक बताते हुए क्षेत्रीय, धार्मिक और जातिगत सीमाओं से परे जाने वाली राष्ट्रीय एकता स्थापित करने का श्रेय दिया। उन्होंने भारत के विभिन्न भाषायी समुदायों को उप-राष्ट्रीयताओं की संज्ञा दी। हालाँकि तिलक हिमालय से कन्याकुमारी तक हिंदुओं की मौजूदगी को राष्ट्रीय एकता के विधेयक तत्त्व की तरह देखते थे, पर साथ में उनकी यह भी स्पष्ट मान्यता थी कि इस तरह की एकता राष्ट्रवाद के लिए अपर्याप्त शर्त है। जब तक राष्ट्रीय आंदोलन और एक राष्ट्रवादी आर्थिक विचारधारा के नेतृत्व में व्यापक जन-गोलबंदी नहीं होगी, राष्ट्रवाद की भित्ति खड़ी नहीं हो सकती।

गोखले के आग्रह के विपरीत तिलक शांतिपूर्ण प्रतिरोध की नीति को ग़ैर-संवैधानिक मानने के लिए तैयार नहीं थे। उनकी निगाह में 1858 में रानी विक्टोरिया द्वारा की गयी भारत संबंधी उद्घोषणा ही अपने-आप में संवैधानिक दस्तावेज़ नहीं थी क्योंकि उसे ब्रिटिश संसद द्वारा क़ानून का रूप नहीं दिया गया था। तिलक की दलील थी कि कंज़रवेटिव और लिबरल के बीच का अंतर ब्रिटेन की भीतरी राजनीति में तो चलता है, पर भारत के मामले में इन दोनों के बीच कोई अंतर नहीं है। उन्होंने उदाहरण दिया कि लॉर्ड मोर्ले जैसे उदार समझे जाने वाले विदेश मंत्री भी भारत के बारे में कंज़रवेटिव और साम्राज्यवादी क्रिस्म के अफ़सरों की राय पर चलते हैं। यहाँ तक कि ब्रिटिश मज़दूर वर्ग भी भारत और अन्य उपनिवेशों को स्व-शासित बनाने के लिए तैयार नहीं है। उनका यह दावा मार्क्स की इस दलील के खिलाफ़ जाता था कि ब्रिटेन और भारत के मज़दूर वर्ग का स्वार्थ एक है। 1896-97 में औपनिवेशिक सरकार के क़ानून के प्रति निष्ठा व्यक्त करने वाले तिलक ने 1905-58 के बीच बंग-भंग विरोधी मुहिम के दौरान अन्यायपूर्ण क़ानूनों के खिलाफ़ सीधी कार्रवाई की अपील की। अरविंद घोष के साथ स्वदेशी आंदोलन के तिलक द्वारा किये गये नेतृत्व ने बीस के दशक में चले असहयोग आंदोलन की पूर्व-पीठिका तैयार कर दी।

तिलक के सामाजिक विचारों में अनुदारता और परम्परानिष्ठता के प्रबल आयाम थे। लेकिन उनके रवैये को ध्यान से देखने पर लगता है कि किसी मसले पर तो वे पितृसत्ता के पक्ष में नज़र आते हैं, और कहीं तत्कालीन सुधारकों से भी आगे दिखाई देते हैं। रुक्मा बाई और फूलमनी के बहुचर्चित मसलों पर तिलक ने परम्परा के घोर प्रतिक्रियावादी पहलुओं के समर्थन में प्रभावी मुहिम चलायी। नतीजे के तौर पर औपनिवेशिक सरकार ने जेंडर संबंधी सुधारों को लम्बे अरसे के लिए टाल दिया। इसके अलावा लड़के-लड़कियों की विवाह-योग्य आयु के सवाल पर हुए सार्वजनिक विवाद में रानाडे के नेतृत्व में चल रहे समाज-सुधार के एंजेंडे के खिलाफ़ शास्त्रों का सहारा लेकर तिलक

ने ज़ोरदार दलीलें दीं। उन्होंने सरकार से यह भी कहा कि उसे हिंदुओं के रीति-रिवाजों में दखलअंदाजी करने से बाज़ आना चाहिए। लेकिन दूसरी तरफ़ तिलक ने सुधारवादियों से भी आगे बढ़ कर लड़कियों और लड़कों की न्यूनतम विवाह योग्य आयु 16 और 20 वर्ष करने का रैडिकल प्रस्ताव रखा। सुधारकों द्वारा माँग यह की जा रही थी कि क्यों न लड़कियों की विवाह योग्य आयु दस से बढ़ा कर बारह कर दी जाए। तिलक विधवा विवाह के खिलाफ़ थे, पर साथ ही वे चालीस साल से ज़्यादा के पुरुषों के पुनर्विवाह के भी विरोधी थे। उनका कहना था कि अगर ऐसे पुरुषों को विवाह करना ही है तो फिर उन्हें विधवाओं से ही विवाह करना चाहिए। तिलक ने विधवाओं के केश-कर्तन को पूरी तरह बंद करने, दहेज पर प्रतिबंध लगाने और शराबबंदी के पक्ष में भी थे।

1891 से तिलक ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की गतिविधियों में भाग लेना शुरू किया और जल्दी ही महाराष्ट्र के सबसे लोकप्रिय जन-नेता बन गये। कांग्रेस के भीतर उन्होंने राजनीतिक सुधारों के एंजेंडे को समाज-सुधार के कार्यक्रम से स्वतंत्र करने का अभियान चलाया। 1895 में वे सोशल कांफ़्रेंस और कांग्रेस के अधिवेशनों को अलग करने में कामयाब रहे। उन्होंने अंग्रेज़ों के भ्रष्ट प्रशासन, विषमतामूलक भू-राजस्व प्रणाली और मुसलमानों की तरफ़दारी पर आधारित फूट डालो और राज करो की नीति के विरोध पर ज़ोर दिया। 1897 में पुणे में प्लेग फैला जिसके निवारण के लिए ब्रिटिश फ़ौज तैनात की गयी। फ़ौजियों द्वारा जनता के साथ किये गये अपमानजनक व्यवहार के खिलाफ़ तिलक ने जम कर लेखन किया। दो ब्रिटिश अफ़सरों की क्रांतिकारियों द्वारा हत्या कर दिये जाने पर सरकार ने तिलक पर राजद्रोह भड़काने का झूठा आरोप लगा कर 18 महीने की कड़ी सज़ा दी। जेल से रिहा होने पर तिलक का एक राष्ट्रीय नायक की तरह स्वागत हुआ और उनकी प्रतिष्ठा पूरे देश में फैल गयी। 1908 में एक बार फिर राजद्रोह के आरोप में छह साल के लिए बर्मा के मांडले जेल भेज दिये जाने तक वे कांग्रेस की राजनीति में शिखर पर रहे।

मांडले जेल की तकलीफ़ों ने तिलक का स्वास्थ्य ख़राब कर दिया। प्रथम विश्व-युद्ध के दौरान तिलक ने अमेरिका के राष्ट्रपति वुड्रो विल्सन द्वारा प्रतिपादित राष्ट्रीय आत्म-निर्णय के अधिकार का समर्थन किया। होम रूल लीग के नेता के तौर पर उनका तर्क था कि साम्राज्य का विघटन होने के नौबत उपनिवेशों को अधिकार देने के कारण नहीं बल्कि लंदन से की जाने वाली हुकूमत की फिज़ूलखर्ची के कारण आयी है। तिलक ने उपनिवेशवादियों के इस दावे को चुनौती दी कि भारतीय स्व-शासन के क्राबिल नहीं हैं। उन्होंने कहा कि भारतीय अपनी हुकूमत ख़ुद चलाने के लिए परिपक्व हो चुके हैं, और अगर ऐसा नहीं हुआ तो इसके

कसूरवार भी अंग्रेज ही हैं। लगातार स्वास्थ्य खराब रहने और अथक परिश्रम करने के कारण 1 अगस्त, 1920 को तिलक का देहांत हो गया।

देखें : अबुल कलाम आज़ाद, उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन-1 से 3 तक, एलमकुलम मनक्कल शंकरन नम्बूद्रीपाद, कांशी राम, गोपाल कृष्ण गोखले, चरण सिंह, जवाहरलाल नेहरू, जय प्रकाश नारायण, दयानंद सरस्वती और आर्य समाज-1 और 2, दादाभाई नौरोजी, नरेंद्र देव, मोहनदास कर्मचंद गाँधी-1 से 3 तक, राम मनोहर लोहिया, वल्लभभाई पटेल, विनायक दामोदर सावरकर, सहजानंद सरस्वती।

संदर्भ

1. विश्वमय पति (2007), 'नैशनलिस्ट पॉलिटिक्स ऐंड द 'मेकिंग' ऑफ बाल गंगाधर तिलक', *सोशल साइंटिस्ट*, खण्ड 35, अंक 9/10.
2. स्टेनली बोलपर्ट (1961), *तिलक ऐंड गोखले : रेवोल्यूशन ऐंड रिफॉर्म इन मेकिंग ऑफ माडर्न इण्डिया*, युनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस, बर्कले.
3. आर.आई. कैशमैन (1975), *मिथ ऑफ लोकमान्य तिलक ऐंड मास पॉलिटिक्स इन महाराष्ट्र*, युनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस, बर्कले.
4. एन.आर. इनामदार (1986), 'दि पॉलिटिकल आइडियाज़ ऑफ लोकमान्य तिलक', थॉमस पेंथम और केनेथ एल. ड्यूश (सम्पा.), *पॉलिटिकल थॉट इन माडर्न इण्डिया*, सेज, नयी दिल्ली.

— अभय कुमार दुबे

बिपन चंद्र-1

(बूज्वा लोकतांत्रिक संघर्ष का सिद्धांतीकरण)

(Bipan Chandra-1)

आज़ादी के बाद भारतीय इतिहास-लेखन की मार्क्सवादी परम्परा के अग्रणी इतिहासकार बिपन चंद्र (1928-) आधुनिक भारत में राष्ट्रवाद, उपनिवेशवाद, साम्प्रदायिकता, आर्थिक राष्ट्रवाद और इन सबसे ऊपर भारतीय स्वाधीनता संघर्ष जैसे विषयों पर इतिहास-चिंतन और लेखन के लिए जाने जाते हैं। बिपन चंद्र ने इस दृष्टिकोण की आलोचना की कि भारतीय राष्ट्रवाद की बुनियादी प्रकृति बूज्वा थी। इस नज़रिये की स्थापना रजनीपाम दत्त ने *इण्डिया टुडे* (1940) और आर.पी. देसाई ने *सोशल बैकग्राउंड ऑफ इण्डियन नैशनलिज़म* (1948) में की थी। राष्ट्रीय आंदोलन के संबंध में लम्बे समय तक यही दृष्टिकोण मार्क्सवादी इतिहास लेखन का आधारभूत वक्तव्य बना रहा।

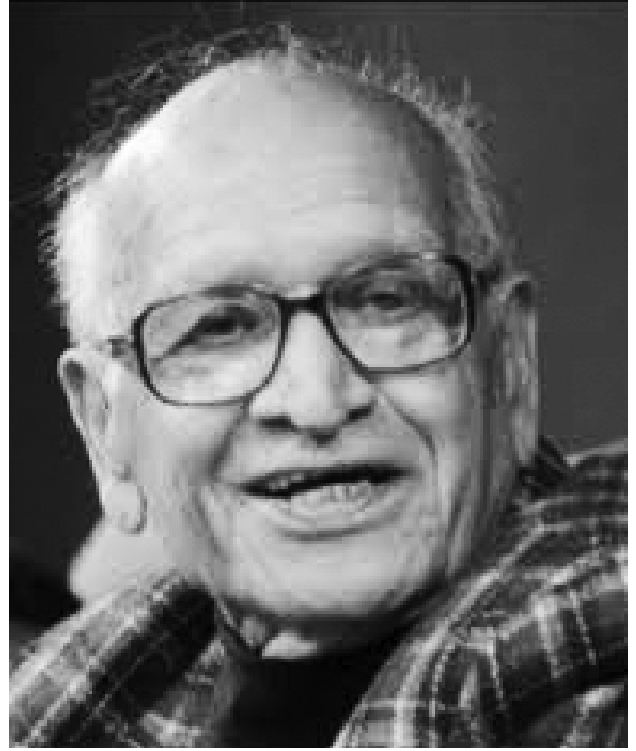
बिपन चंद्र का जन्म 1928 में हिमाचल प्रदेश की कांगड़ा घाटी में हुआ था। उन्होंने लाहौर के फ़ोरमैन क्रिश्चियन कॉलेज और अमेरिका की स्टैनफ़र्ड युनिवर्सिटी (1946-49) से शिक्षा-प्राप्ति के बाद 1963 में नयी दिल्ली विश्वविद्यालय से बिश्वेश्वर प्रसाद के शोध-निर्देशन में पीएचडी की उपाधि अर्जित की। नयी दिल्ली विश्वविद्यालय के हिंदू कॉलेज में व्याख्याता के तौर पर उन्होंने अध्यापन किया और 1969 में नयी दिल्ली में जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय की स्थापना के तुरंत बाद वहाँ आधुनिक भारतीय इतिहास के प्रोफ़ेसर हो गये। उन्होंने *इन्क्वैयरी* जर्नल की शुरुआत की और लम्बे समय तक उसके सम्पादक-मण्डल में रहे। रामशरण शर्मा, रोमिला थापर, सतीश चंद्र और अर्जुन देव के साथ बिपन चंद्र ने राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान प्रशिक्षण एवं परिषद् के लिए इतिहास की पुस्तकें लिखने में सहयोग दिया। उन्होंने बारहवीं कक्षा हेतु *आधुनिक भारत* की रचना की जिसे पाठ्यपुस्तक के तौर पर लम्बे समय से पढ़ाया जाता रहा है। 1985 में वे भारतीय इतिहास कांग्रेस के सभापति रहे। बिपन चंद्र वर्तमान में नैशनल बुक ट्रस्ट के अध्यक्ष हैं।

बिपन चंद्र ने अपनी पहली कृति *द राइज़ ऐंड ग्रोथ ऑफ़ इकॉनॉमिक नैशनलिज़म इन इण्डिया : इकॉनॉमिक पॉलिसीज़ ऑफ़ इण्डियन नैशनल लीडरशिप, 1880-1905* में स्वदेशी आंदोलन के साथ उच्चतर और भिन्न चरण में प्रवेश से पहले के काल में राष्ट्रीय आंदोलन की आर्थिक नीतियों की पड़ताल की। उन्होंने दिखाया कि कार्रवाई और परिवर्तन के प्रमुख माध्यम के रूप में उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन काफ़ी हद वैचारिक रूप से स्वतंत्र था। बिपन चंद्र के इस निष्कर्ष के मूल में उनकी मार्क्सवादी समझ थी जिसके तहत वे मानते थे कि सामाजिक संबंध मनुष्य द्वारा निरूपित विचारों से स्वतंत्र होते हैं इसलिए सामाजिक और राजनीतिक कार्रवाइयों के तात्पर्य-निरूपण के लिए इन संबंधों को समझना आवश्यक है। चूँकि चेतना के स्तर पर बुद्धिजीवी अपने चिंतन से निर्देशित होते हैं, अपने हितों से नहीं। इसीलिए किसी भी समाज में बुद्धिजीवी अपने वर्ग के संकीर्ण हितों से ऊपर उठकर कार्य करते हैं। साथ ही बिपन चंद्र ने इस बात पर भी बल दिया कि केवल वर्ग के आधार पर बुद्धिजीवियों का मूल्यांकन करना यांत्रिक भौतिकवाद का अंधानुकरण है। बिपन चंद्र बुद्धिजीवियों की भूमिका का विश्लेषण करते हुए बताते हैं कि विश्व-इतिहास के सर्वोत्तम और श्रेष्ठ बुद्धिजीवियों की तरह उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीय चिंतक और बुद्धिजीवी भी दार्शनिक थे। किसी दल या वर्ग के प्रवक्ता नहीं। हालाँकि वे अपने वर्ग या समूह से अलग नहीं थे और अपने व्यवहार में वर्गीय या सामूहिक हितों का प्रतिनिधित्व करते थे, लेकिन वे अपने वर्ग हित या

सामूहिक हित की वकालत वैचारिक आधार पर करते थे ना कि उसके एक सदस्य या आज्ञाकारी सेवक के रूप में। ब्रिटिश आर्थिक साम्राज्यवाद के विरुद्ध राष्ट्रवादी प्रतिवाद करने वाले प्रारम्भिक राष्ट्रवादी विचारकों के आर्थिक सोच का विश्लेषण करते हुए बिपन चंद्र इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि उनका नजरिया मूलतः पूँजीवादी था। जब उन्होंने महसूस किया कि पूँजीवादी ढर्रे पर होने वाला औद्योगिक विकास ही देश को आर्थिक प्रगति के पथ पर आगे बढ़ा सकता है तो आर्थिक जीवन के लगभग प्रत्येक पक्ष में राष्ट्रवादी विचारकों ने सामान्य तौर पर पूँजीवादी विकास का और विशेषकर औद्योगिक पूँजीपतियों के हितों का सम्पोषण किया। इस प्रकार औद्योगिक पूँजीपति वर्ग का हित उस समय के प्रमुख राष्ट्रीय हित से जुड़ गया। आर.पी. दत्त और ए.आर. देसाई के विचारों से इतर बिपन चंद्र द्वारा दिया गया यह परिप्रेक्ष्य भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के इतिहास-लेखन के दृष्टिकोण में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन था।

अपनी अगली कृति *नैशनलिज़्म एंड कॉलोनिअलिज़्म इन इण्डिया* (1979) में बिपन चंद्र ने बताया कि कैसे भारत में 1857 के बाद और खासकर 1914 के बाद विकसित हुए स्वतंत्र पूँजीवादी वर्ग ने ब्रिटिश या किसी विदेशी पूँजीवाद के साथ कोई आंगिक संबंध नहीं बनाया, न ही वह वर्ग ब्रिटिश शासन का कभी सहयोगी ही रहा। भारतीय पूँजीवाद को औपनिवेशिक रूप से मानकीकृत और संरचनाबद्ध अर्थव्यवस्था कहते हुए उन्होंने उसे एक उपनिवेश का पूँजीवाद बताया। इसी कृति के एक लेख 'आरम्भिक राष्ट्रवादी गतिविधियों में निरंतरता और परिवर्तन के तत्त्व' में बिपन चंद्र ने राष्ट्रवादी नेताओं को बूज्वा मानने और उनके पूँजीवादी निर्देश में कार्य करने संबंधी संकीर्ण दृष्टिकोण की आलोचना करते हुए बताया कि कैसे साम्राज्यवाद विरोधी स्कूल का निर्माण, संगठन और सुदृढीकरण आधुनिक पूँजीवादी अर्थव्यवस्था के विकास को बढ़ावा देकर एक बृहद अखिल भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन खड़ा कर रहा था। उसका मकसद भारतीय जनता को एक राष्ट्र के रूप में बाँधने का था।

दिलचस्प बात यह है कि अपने इस नजरिये के बावजूद बिपन चंद्र, दत्त और देसाई की परिपाटी के कई सिद्धांतों और उनकी व्याख्याओं से सहमत भी दिखायी देते हैं। इनमें प्रमुख हैं : अहिंसा की रणनीति के मूल में मौजूद धनी-वर्ग की दीर्घकालिकता के पीछे राष्ट्रवादी नेताओं के शांतिपूर्ण और रक्तहीन संघर्ष के आह्वान की नीति, जनता को लामबंद करते समय उसे निर्णय लेने की प्रक्रिया से न जोड़े जाने से भारतीय जनता और राष्ट्रवादी नेताओं के बीच का संबंध हमेशा समस्याग्रस्त रहना, आंदोलन के सभी चरणों में राष्ट्रवादी नेताओं द्वारा इस बात पर बल दिया जाना कि



बिपन चंद्र (1928-)

स्वतंत्रता प्राप्ति हेतु दबाव-समझौता-दबाव के आधार पर चलने वाली विकासात्मक पथ की रणनीति अपनायी जाए। बिपन चंद्र मानते हैं कि यद्यपि कि इस आंदोलन ने साम्राज्यवाद के समानांतर भारतीय समाज के सभी वर्गों और हिस्सों को कतारबद्ध किया, लेकिन नेतृत्व हमेशा बूज्वा वर्ग के ही हाथ में रहा। साथ ही बिपन चंद्र ने यह भी बताया कि कैसे गाँधी युग में राष्ट्रीय आंदोलन पर बूज्वा वर्ग का प्रभुत्व पहले से कहीं ज्यादा बढ़ा और आंदोलन पर उनकी पकड़ ज्यादा मजबूत हुई। सामाजिक आधार, विचारधारा और राजनीतिक संघर्ष की रणनीति के इस विश्लेषण द्वारा बिपन चंद्र ने कांग्रेस के नेतृत्व में चलने वाले इस राष्ट्रवादी आंदोलन को निष्कर्षतः बूज्वा लोकतांत्रिक आंदोलन करार दिया।

अपनी सम्पादित कृति *इण्डियाज़ स्ट्रगल फॉर इंडिपेंडेंस, 1857-1947* (1988) में बिपन चंद्र ने केम्ब्रिज स्कूल के इस तर्क की तीखी आलोचना की कि भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन एक जन-आंदोलन न हो कर अभिजात्य समूहों की आवश्यकताओं और हितों की परिणति था। बिपन चंद्र बताते हैं कि किस तरह साम्राज्यवादी चिंतकों के विपरीत मार्क्सवादी इतिहासकार स्पष्ट तौर पर प्राथमिक अंतर्विरोधों तथा राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया को रेखांकित करते हैं और राष्ट्रवादियों के विपरीत उन्होंने भारतीय समाज के अंदरूनी विरोधाभासों पर पूरी तरह ध्यान दिया है। इस प्रक्रिया के दौरान बिपन चंद्र ने कांग्रेस की रणनीति की व्याख्या के लिए अपने पहले के विचारों को संशोधित करते हुए दबाव-

समझौता-दबाव की रणनीति की जगह ग्राम्शी द्वारा प्रतिपादित युद्ध की नाकाबंदी अवधारणा का सहारा लिया, जिसके अनुसार लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए लम्बी लड़ाई लड़नी पड़ती है।

अपने इस मत की पुष्टि के लिए बिपन चंद्र ने बताया कि भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन एकमात्र ऐसा आंदोलन है जिसमें ग्राम्शी के इस सैद्धांतिक दृष्टिकोण को व्यावहारिक जामा पहनाया गया है। भारत में किसी एक क्रांति के दौरान राजनीतिक सत्ता हस्तगत नहीं की गयी, बल्कि नैतिक, राजनीतिक और विचारधारात्मक स्तर पर लम्बे जन-आंदोलन के तहत विजय प्राप्त की गयी और लगातार आगे बढ़ते हुए एक ताकत खड़ी की गयी और एक माहौल बनाया गया। इस विकास-क्रम में ऐसे दौर भी आये जिसे निष्क्रियता का दौर भी कहा जा सकता है। बिपन चंद्र ने अंग्रेजों द्वारा प्रचारित-प्रसारित दो मिथ्या धारणाओं (औपनिवेशिक शासन भारतीय लोगों के लिए लाभ-प्रद है; और यह अभेद्य है) का खण्डन करते हुए दिखाया कि किस तरह राष्ट्रवादी नेताओं द्वारा लम्बे संघर्ष के जरिये औपनिवेशिक वर्चस्व की समाप्ति हुई। गाँधी की अहिंसा की व्याख्या करते हुए बिपन चंद्र बताते हैं कि कैसे गाँधी की अहिंसा कोई पाखण्ड नहीं था, न ही वह धनी-वर्ग के निर्देशों से परिचालित और निर्देशित थी। गाँधी की अहिंसा एक जरिया था जिसकी मदद से अंग्रेजों के विरुद्ध एक व्यापक जन-आंदोलन खड़ा करने हेतु लोगों को यथासम्भव और यथाशक्ति लामबंद किया गया।

इस संबंध में बिपन चंद्र द्वारा नेहरू के व्यक्तित्व और कृतित्व पर डाले गये प्रकाश का उल्लेख आवश्यक है। उनकी रचना 'ऐतिहासिक संदर्भ में नेहरू' दिखाती है कि नेहरू के जीवन-काल में उनके कटु आलोचक रहे लोग भी नेहरू युग का बड़े प्रेम और सम्मान के साथ स्मरण करते हैं। बिपन चंद्र के अनुसार नेहरू ने यह समझ लिया था कि मुख्य अंतर्विरोध साम्राज्यवाद और भारतीय जनता के बीच है इसलिए उन्होंने राष्ट्रीय संघर्ष को सामाजिक संघर्ष पर प्राथमिकता दी। वर्ग-संघर्ष और वर्ग-सामंजस्य को एक साथ चलाया ताकि साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष में भारतवासियों के बीच फूट न पड़ने पाये। नेहरू के कई रैडिकल आलोचक मानते हैं कि उन्होंने अपने विचारों पर दृढ़ न रह कर गाँधी, गाँधीवाद और दक्षिणपंथियों के सामने घुटने टेक दिये थे। पर बिपन चंद्र अपने विश्लेषण में दिखाते हैं कि 1936 के बाद नेहरू द्वारा अपनायी गयी संधि-संघर्ष-संधि की रणनीति एक सकारात्मक राजनीतिक विकास था। नेहरू के गाँधी के प्रति दृष्टिकोण की व्याख्या करते हुए बिपन चंद्र ने बताया कि किस प्रकार वे वर्ग-विभाजन को मान्यता न देने के कारण गाँधी की आलोचना भी करते थे, और साथ में उन्हें एक ऐसे क्रांतिकारी के रूप में भी देखते थे जो भारतीय राजनीति और

समाज में एक परिवर्तनकारी भूमिका निभा रहा था। नेहरू और वामपंथियों के रवैये की तुलना करते हुए बिपन चंद्र ने कहा कि वामपंथी गाँधी को दक्षिणपंथी शिविर में रखते थे, लेकिन नेहरू इस चक्कर में नहीं पड़े और उन्होंने दक्षिणपंथियों के साम्राज्यवाद विरोध को भी समझा। बिपन चंद्र ने नेहरू की इस बात के लिए भूरि-भूरि प्रशंसा कि उन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन को सेकुलर रास्ते पर चलाने में प्रमुख भूमिका का निर्वाह किया। साथ ही बिपन चंद्र ने यह भी माना कि साम्प्रदायिकता की समस्या का मुकाबला करने के लिए उन्होंने संस्थागत और प्रशासनिक बंदोबस्त दुरुस्त नहीं किया। पचास के दशक में नेहरू साम्प्रदायिकता के प्रति आत्मसंतुष्ट हो गये और उसके खिलाफ एक दीर्घकालीन वैचारिक संघर्ष व जनआंदोलन चलाने में नाकाम रहे।

देखें : आनंद केंटिश कुमारस्वामी, आर्य-अवधारणा, आर्थर लेवेलिन बाशम, काशी प्रसाद जायसवाल, भारतीय इतिहास-लेखन-1 से 4 तक, दामोदर धर्मानंद कोसम्बी-1 और 2, रमेश चंद्र दत्त, रमेश चंद्र मजूमदार, रणजीत गुहा, रामकृष्ण गोपाल भंडारकर, रामशरण शर्मा, रोमिला थापर, वासुदेव शरण अग्रवाल, पांडुरंग वामन काणे, विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े, सखाराम गणेश देउस्कर, सामंतवाद : एक बहस।

संदर्भ

1. बिपन चंद्र (1966), *द राइज एंड ग्रोथ ऑफ इकॉनॉमिक नैशनलिज़्म इन इण्डिया*, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.
2. बिपन चंद्र (2000), *आधुनिक भारत में विचारधारा और राजनीति*, अनामिका पब्लिशर्स, नयी दिल्ली.
3. हरबंस मुखिया (1978), 'लेफ्ट एकेडेमिशन एंड राइटिंग ऑफ इण्डियन हिस्ट्री', *इकॉनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली*, खण्ड 13, अंक 37.
4. माजिद हयात सिद्दीकी (1980), 'हिस्ट्री राइटिंग इन इण्डिया', *हिस्ट्री वर्कशॉप*, खण्ड 10, हेमंत.

—निर्मल कुमार पाण्डेय

बिपन चंद्र-2

(साम्प्रदायिकता की विशद व्याख्या)

(Bipan Chandra-2)

बिपन चंद्र ने साम्प्रदायिकता की समस्या पर भी विशद विचार किया है। अपनी रचना *कम्युनलिज़्म इन मॉडर्न इण्डिया* (1984) और *कम्युनलिज़्म : अ प्राइमर* (1984) में उन्होंने व्याख्या की कि सम्प्रदायवाद की परिघटना केवल एक ऐतिहासिक दुर्घटना या समुदायों के परस्पर टकराव की परिणति नहीं है, बल्कि सम्प्रदायवाद के विकास के पीछे

अनेक शक्तियों और कारणों का योगदान रहा है। बिपन चंद्र साम्प्रदायवादी चेतना के प्रसार में साम्प्रदायिक विचारधारा और इस विचारधारा के मूल में इतिहास की साम्प्रदायवादी व्याख्या को अधिक ज़िम्मेदार मानते हैं। वे इस मार्क्सवादी अवधारणा को स्वीकार करते हैं कि साम्प्रदायवाद उपनिवेशवाद के सह उत्पादों में से एक था। साथ ही वे यह भी बताते हैं कि आर्थिक स्थितियों की स्थिरता के अधीन मध्यमवर्गीय साम्प्रदायवाद का आधार बूज्वा रहा है। इतिहास के इस्तेमाल द्वारा धर्म और अल्पसंख्यक भावना का उपयोग लोगों में डर पैदा करने के लिए किया गया। साम्प्रदायवाद के कारण अक्सर सामाजिक तनाव और वर्ग-संघर्ष साम्प्रदायिक संघर्ष में विरूपित हो गया। साम्प्रदायवाद का गहन विश्लेषण करते हुए बिपन चंद्र बताते हैं कि कैसे 1857 से 1937 के काल में साम्प्रदायवाद की प्रकृति उदारतावादी रही, जो 1937 के बाद चरमपंथी और उग्र रूप में परिणत हो गयी। इसके आधार थे घृणा, भयाक्रांत मनोदशा और असंगत धारणाएँ।

साम्प्रदायिक उभार के देशव्यापी कारणों पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने इसके मूल में सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था, सामाजिक एवं नैतिक पतन, प्रशासनिक कमजोरियों, अधिकतर सेकुलर पार्टियों की मौक्रापरस्ती तथा सेकुलरवाद के प्रति उनकी क्षीण होती आस्था का जिक्र किया। अन्य कारणों में उन्होंने साम्प्रदायिक पार्टियों की वैधानिकता, अल्पसंख्यक साम्प्रदायिकता का तुष्टीकरण एवं बहुसंख्यक साम्प्रदायिकता का डट कर विरोध करने में विफलता; सुदृढ़ तर्कसंगत एवं निरंतर वैचारिक संघर्ष की कमी और साम्प्रदायिकता के खिलाफ एक दीर्घकालीन रणनीति के अभाव की विशद चर्चा की। साम्प्रदायिकता के उद्भव और विकास में धर्म की भूमिका पर विचार करते हुए उन्होंने दिखाया कि धर्म साम्प्रदायिकता का अंतर्निहित अथवा बुनियादी कारण नहीं था, और न ही धर्म साम्प्रदायिकता की जड़ ही था। अपितु धर्म का राजनीतिक हितों के लिए इस्तेमाल किया गया। साम्प्रदायिकता को भारतीय संस्कृति और धर्म दोनों के लिए एक प्रमुख खतरा बताते हुए बिपन चंद्र धर्म को राज्य और राजनीतिक प्रणाली से अलग रख कर सेकुलर दृष्टिकोण विकसित करने हेतु गाँधी के वक्तव्य 'धर्म प्रत्येक व्यक्ति का व्यक्तिगत मामला है, इसे राजनीति या राष्ट्रीय मामलों में नहीं मिलाना चाहिए' का समर्थन करते हुए दो मतों का प्रतिपादन करते हैं। पहला, साम्प्रदायिकता के राष्ट्रविरोधी, विभाजनकारी और देश को खण्डित करने वाले बुनियादी चरित्र को नंगा करना। और दूसरा, ऐसी नीति का विकास करना जहाँ हम राष्ट्रवाद की ज़मीन पर मज़बूती से खड़े रह सकें और राष्ट्र को आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक रूप से मज़बूत बनाते हुए सेकुलर ताकतों को राष्ट्रवाद, लोकप्रिय-जनाधार, समानता और सामाजिक न्याय की दिशा में निरंतर परिभाषित किया जा सके। चालीस के दशक में गाँधी के जीवन के अंतिम वर्षों के वक्तव्यों और गतिविधियों का

विश्लेषण करते हुए बिपन चंद्र ने एक अनूठे लेख में दिखाया कि किस प्रकार उस ज़माने में वे पूरी तरह से नेहरू के साथ थे और बार-बार एक सेकुलर और आधुनिक राष्ट्र की रचना करने की आवश्यकता पर बल दे रहे थे।

इतिहास में साम्प्रदायवाद के विश्लेषण द्वारा बिपन चंद्र दर्शाते हैं कि कैसे साम्प्रदायवादियों ने राष्ट्रवाद को आर्थिक या राजनीतिक संदर्भ में नहीं अपितु सांस्कृतिक संदर्भ में परिभाषित किया। उन्होंने राजनीतिक विश्लेषण द्वारा यह भी बताया कि हिंदू और मुसलमान साम्प्रदायवादियों का सामाजिक आधार तो समान था ही, साम्राज्यवाद के प्रति उनका राजनीतिक दृष्टिकोण भी एक जैसा था। समान सामाजिक धरातल और सोच के आधार पर साम्प्रदायवादियों और राजनीतिज्ञों ने भारतीय अतीत की व्याख्या करते हुए एक मनगढ़ंत विचार गढ़ा कि हिंदू और मुसलमान शताब्दियों से आपस में लड़ते आये हैं। बिपन चंद्र इतिहास के प्रति उनके इसी दृष्टिकोण को भारतवासियों के बीच सामाजिक तनाव और वैमनस्य बढ़ाने के लिए ज़िम्मेदार मानते हैं।

बिपन चंद्र का विचार है कि साम्प्रदायिकता एक सशक्त और एकीकृत राष्ट्र के तौर पर भारत के ऐतिहासिक विकास को चुनौती देती रही है। 1947 के पहले उपनिवेशवादी सत्ता के प्रोत्साहन से साम्प्रदायवादियों ने भारतीय जनता में दरार पैदा की जो सामंतवाद के खिलाफ संघर्ष को कमजोर करके भारत के विभाजन का प्रमुख कारण बनी। साम्प्रदायिकता की समस्या से निबटने के लिए बिपन चंद्र सुझाव देते हैं कि भारत में आज सबसे ज़रूरी और महत्वपूर्ण काम एक मज़बूत और संगठित भारत का निर्माण करना और भारतीय लोगों का मनोवैज्ञानिक एकीकरण करना है। जब तक यह नहीं स्वीकार किया जाता कि भारतवासियों की विविधता और कई भाषाओं, धर्मों और संस्कृतियों की उपस्थिति एक सच है तब तक साम्प्रदायिकता का खतरा बना रहेगा। निष्कर्षतः बिपन चंद्र इस तथ्य पर पहुँचते हैं कि भारत जैसे विविधतापूर्ण समाज की एकता और अखण्डता के लिए आवश्यक है कि यहाँ सबको सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और राजनीतिक तौर पर खुली अभिव्यक्ति की लोकतांत्रिक आज़ादी हो।

बिपन चंद्र न केवल एक मार्क्सवादी इतिहास-लेखक हैं, बल्कि उन्होंने भारतीय मार्क्सवाद की दशा और दिशा पर भी गहन विचार किया है। वे मानते हैं कि भारतीय मार्क्सवाद में सम्पूर्ण संशोधन की आवश्यकता है। हमारे मार्क्सवादियों ने उनके लिए जो सम्भव था, उसका एक छोटा सा हिस्सा ही उपलब्ध कर पाया है। इस विफलता के लिए बिपन चंद्र व्यक्तियों को ज़िम्मेदार न मान कर बीस के दशक से ही त्रुटिपूर्ण समझ और उस पर अमल को रेखांकित किया है। बिपन चंद्र बताते हैं कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भू-स्वामित्व

के ढाँचे में परिवर्तन संबंधी बहस के दौरान कम्युनिस्ट पार्टी के अधिकतर नेताओं ने ज़मीन के मालिकाने में आये अधिकतर परिवर्तनों की उपेक्षा की। वे लगातार इस बात पर जोर देते रहे कि भूमि-संबंध अभी भी सामंतवादी हैं और सामंतवादी ज़मींदार वर्ग शासक वर्ग का हिस्सा है। इसी कारण से कम्युनिस्टों ने 1952 के अपने कार्यक्रम में नेहरू सरकार को ज़मींदारों, राजाओं और प्रतिक्रियावादी बड़े बूज्वा का प्रतिनिधि बताया, और साथ में यह भी आरोप लगाया कि इन लोगों का ब्रिटिश सरकार से संबंध था।

बिपन चंद्र ने जिन अन्य कृतियों की रचना की है उनमें प्रमुख हैं अमलेश त्रिपाठी और वरुण डे के साथ संयुक्त रूप से *फ्रीडम स्ट्रगल* (1972), *द इण्डियन लेफ्ट : क्रिटिकल अप्रेज़ल* (1983), *इण्डियन नैशनल मूवमेंट* (1988), *द एपिक स्ट्रगल* (1992), *एसेज़ ऑन कंटेम्परेरी इण्डिया* (1993), *एसेज़ ऑन इण्डियन नैशनलिज़म* (1993), *आइडियोलॉजी ऐंड पॉलिटिक्स इन मॉडर्न इण्डिया* (1994), मृदुला मुखर्जी और आदित्य मुखर्जी के साथ संयुक्त रूप से *इण्डिया आफ्टर इंडिपेंडेंस* (1999), *एसेज़ ऑन कोलोनियलिज़म* (1999), *इन द नेम ऑफ़ डेमोक्रेसी : द जेपी मूवमेंट ऐंड द इमरजेंसी* (2003), *कम्युनलिज़म : अ प्राइमर* (2004), और *द मेकिंग ऑफ़ मॉडर्न इण्डिया : फ्रॉम मार्क्स टू गाँधी* (2012)।

देखें : आनंद केंटिश कुमारस्वामी, आर्य-अवधारणा, आर्थर लेवेलिन बाशम, काशी प्रसाद जायसवाल, भारतीय इतिहास-लेखन-1 से 4 तक, दामोदर धर्मानंद कोसम्बी-1 और 2, रमेश चंद्र दत्त, रमेश चंद्र मजूमदार, रणजीत गुहा, रामकृष्ण गोपाल भंडारकर, रामशरण शर्मा, रोमिला थापर, वासुदेव शरण अग्रवाल, पांडुरंग वामन काणे, विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े, सखाराम गणेश देउस्कर, सामंतवाद : एक बहस।

संदर्भ

1. सुचेता महाजन (2000), *इंडिपेंडेंस ऐंड पार्टीशन : द इरोज़न ऑफ़ द कोलोनियल पॉवर इन इण्डिया*, सेज पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली.
2. बिपन चंद्र (2004), *कम्युनलिज़म : अ प्राइमर*, डेल्टा हिस्टोरियंस ग्रुप, अनामिका पब्लिशर्स, नयी दिल्ली.
3. रमेश चंद्र शर्मा (1991), *हिस्टोरियोग्राफी ऐंड हिस्टोरियंस इन इण्डिया सिंस इंडिपेंडेंस*, एम.जी. पब्लिशर्स, आगरा.

—निर्मल कुमार पाण्डेय

बिहार

(Bihar)

बिहार भारत के सबसे ज्यादा जनसंख्या वाले मुख्यतः कृषि प्रधान राज्यों में से एक होने के साथ-साथ सर्वाधिक राजनीतिकृत प्रांत भी है। इसका भू-क्षेत्रीय गठन बीसवीं सदी के दूसरे दशक में किया गया, लेकिन इसका रैडिकल राजनीतिक रंग स्वतंत्रता के बाद सामने आया। 1974 के सम्पूर्ण क्रांति आंदोलन के जनक और नक्सलवादी आंदोलन के प्रमुख गढ़ों में से एक इस राज्य ने पिछड़ी जातियों के असाधारण राजनीतीकरण के जरिये ऊँची जातियों के जमे हुए नेतृत्व को तक्ररीबन स्थाई रूप से पीछे धकेलने में कामयाबी हासिल की है। बिहार की राजनीति पर साम्प्रदायिक गोलबंदी कभी हावी नहीं हो पायी। 1990 के बाद तो यहाँ की राजनीति की हर प्रमुख धुरी पर पिछड़ी या दलित जातियों का वर्चस्व हो गया है। पसमांदा कही जाने वाली पिछड़ी और दलित मुसलमान जातियों, अति पिछड़ी जातियों और महा-दलितों का सवाल भी शिद्दत से उभरकर सामने आ चुका है। इस प्रक्रिया में बिहार की दलीय प्रणाली का विन्यास कुछ इस तरह हुआ है कि यहाँ राष्ट्रीय पार्टियों को क्षेत्रीय दलों के साथ गठजोड़ में जा कर दोगुना दर्जे की भूमिका निभाने के लिए विवश होना पड़ा है। आर्थिक रूप से बिहार एक पिछड़ा प्रदेश है। कल-कारखानों और पूँजी निवेश की कमी है। जहाँ तक भूमि-सुधारों का सवाल है, बिहार एक ऐसा राज्य है जहाँ न तो अतीत में सही तरीके से भूमि-सुधार हुआ और न ही पिछड़ी जातियों के राजनीतिक उभार के दौर में इसके लिए कोई राजनीतिक इच्छा-शक्ति दिखती है। मध्य बिहार के विशाल इलाके में लगातार सक्रिय रहने वाले नक्सली संगठनों ने इस मुद्दे की प्रासंगिकता रेखांकित की है। दूसरी तरफ़ यह भी हकीकत है कि यह मुद्दा राज्य की राजनीति में निर्णायक नहीं बन पाया है।

बिहार की रचना 1912 में बंगाल से अलग करके की गयी थी। उस समय बिहार और ओडीशा राज्यों का प्रशासन एक साथ ही चलता था। 1936 में ओडीशा और बिहार को अलग-अलग प्रशासनिक ईकाइयों के रूप में स्थापित किया गया। सन् 2000 में बिहार से अलग करके झाड़खण्ड राज्य का निर्माण हुआ। वर्तमान बिहार के उत्तर में नेपाल, पूर्व में पश्चिम बंगाल, दक्षिण में झाड़खंड और पश्चिम में उत्तर प्रदेश है। बिहार का क्षेत्रफल 99,200 वर्ग किमी. है। 2001 की जनगणना के अनुसार यहाँ की कुल जनसंख्या 100,393, 433 और जनसंख्या घनत्व 837 व्यक्ति प्रति वर्ग किलोमीटर है। यह क्षेत्रफल के आधार पर भारत का बारहवाँ और जनसंख्या के आधार पर तीसरा बड़ा राज्य है। बिहार से



बिहार : जाति-राजनीति के समीकरण

लोकसभा के कुल 40 सदस्य चुने जाते हैं। यहाँ की विधायिका दो सदनीय है। विधानसभा में 243 और विधान परिषद् में 96 सदस्य होते हैं। 2001 के आँकड़ों के अनुसार बिहार की साक्षरता दर 54.1 प्रतिशत है। यहाँ 1000 पुरुषों पर 919 महिलाएँ हैं। बिहार की तक्ररीबन 85 प्रतिशत जनसंख्या ग्रामीण क्षेत्रों में रहती है। बिहार में हिन्दी, उर्दू, मैथिली और भोजपुरी मुख्य आधिकारिक भाषाएँ हैं।

स्वातंत्र्योत्तर बिहार की राजनीति को चार चरणों में बाँट कर समझा जा सकता है। पहला, आज़ादी के बाद से 1967 तक का दौर। इसमें मुख्य रूप से अगड़ी जातियों का वर्चस्व रहा। ये जातियाँ जनसंख्या के लिहाज़ से छोटी थीं। लेकिन इनकी सामाजिक और आर्थिक स्थिति बेहद मज़बूत थी। सत्ता की राजनीति में कांग्रेस का वर्चस्व था और कांग्रेस के भीतर की राजनीति ऊँची जातियों (भूमिहार, राजपूत, ब्राह्मण और कायस्थ) के बीच की सत्ता की राजनीति थी। रजनी कोठारी द्वारा वर्णित कांग्रेस-प्रणाली का प्रभाव बिहार में भी था। लेकिन कांग्रेस के भीतर नेतृत्व के स्तर पर पिछड़ी जातियों को महत्त्व नहीं दिया गया। इस दौर में लोहियावादी सोशलिस्टों की राजनीति ने पिछड़ी जातियों में राजनीतिक जागरूकता बढ़ायी और ये जातियाँ ग़ैर-कांग्रेसी सोशलिस्ट पार्टियों के पीछे गोलबंद होने लगीं।

दूसरा दौर 1967 से 1990 तक चला। इस दौर में राजनीति कांग्रेस और ग़ैर-कांग्रेसवाद के आधार पर संचालित होती रही। 1967 से 1969 के बीच कुछ ग़ैर-कांग्रेसी सरकारें गठित हुईं, लेकिन ये स्थाई साबित नहीं हुईं। 1974 में बिहार छात्र आंदोलन शुरू हुआ जिसका नेतृत्व बाद में जयप्रकाश

नारायण ने संभाला। यह आंदोलन पूरे देश में फैल गया और इसे संपूर्ण क्रांति आंदोलन के रूप में जाना गया। इस आंदोलन ने न सिर्फ़ ग़ैर-कांग्रेसी शक्तियों को एकजुट किया बल्कि इसने पिछड़ी जातियों की राजनीतिक गोलबंदी को भी बढ़ावा दिया। आंदोलन के दमन के लिए 1975 में केंद्र की कांग्रेस सरकार द्वारा आपातकाल लागू किया गया। 1977 में आपातकाल खत्म होने बाद हुए लोकसभा चुनावों में कांग्रेस का इस राज्य से पूरा सफ़ाया हो गया। केंद्र में जनता पार्टी की सरकार बनने के बाद हुए राज्य विधान सभा चुनावों में पूर्ण

बहुमत के साथ कर्पूरी ठाकुर के नेतृत्व में जनता पार्टी की सरकार गठित हुई। यद्यपि यह सरकार स्थाई साबित नहीं हुई, लेकिन इसने 1978 में राज्य स्तरीय नौकरियों में पिछड़ी जातियों के लिए आरक्षण का प्रावधान किया। आरक्षण के समर्थन और विरोध में चले आंदोलनों ने पिछड़ी जातियों में राजनीतिक चेतना भरने और उन्हें एकजुट करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। जनता पार्टी में टूट होने के कारण बिहार में मध्यावधि चुनाव हुए और 1980 में बिहार में कांग्रेस की सत्ता में वापसी हुई। 1980 से 1990 के बीच राज्य में कांग्रेस की सरकार रही। यद्यपि इस दौरान भी राज्य में पिछड़ी जातियों के विधायकों की संख्या में पहले की तुलना में बढ़ोतरी हुई, लेकिन इसके बावजूद कांग्रेस ने पिछड़ी जाति के किसी नेता को राज्य का मुख्यमंत्री नहीं बनाया। इस पूरे दशक में बिहार में कुल पाँच मुख्यमंत्री हुए और ये पाँचों मुख्यमंत्री ऊँची या अगड़ी जातियों से संबंधित थे।

तीसरा दौर बिहार की राजनीति में 1990 के बाद के दौर को पिछड़ी जातियों के उभार के युग में रूप में रेखांकित किया जा सकता है। इस संदर्भ में दो कारकों ने अहम भूमिका निभायी। पहला, लालू प्रसाद का उभार और दूसरा, 1990 में मण्डल कमीशन की सिफ़ारिशों को लागू करने का फ़ैसला। 1990 में विश्वनाथ प्रताप सिंह की जनमोर्चा सरकार द्वारा मण्डल आयोग की सिफ़ारिशें लागू करने के फ़ैसले का ऊँची जातियों ने तीखा विरोध किया। इसने बिहार की राजनीति को अगड़े-पिछड़ों के स्पष्ट ख़ानों में बाँट दिया। इन सिफ़ारिशों के लागू होने के पहले बिहार में विधानसभा चुनाव हुए थे और इसमें लालू प्रसाद के नेतृत्व में जनता दल की सरकार गठित हुई थी। यह सरकार अपने बहुमत के लिए भाजपा और

वामपंथी दलों पर निर्भर थी। लालू ने ऊँची जातियों द्वारा पिछड़ी जातियों को आरक्षण दिये जाने के विरोध का आक्रामक लहजे में जवाब दिया। उनकी ऊँची जातियों के विरोध और पिछड़ों के पहचान की राजनीति ने पिछड़ी जातियों को लालू प्रसाद के पीछे गोलबंद किया। लालू द्वारा ऊँची जातियों के वर्चस्व का विरोध करने और उनके गरीब हितैषी वक्तव्यों के कारण दलितों का बड़ा हिस्सा भी उनके साथ जुड़ा।

इसके बाद बिहार में हुए बदलावों को कुछ बिंदुओं में रेखांकित किया जा सकता है। पहला, ऊपर वर्णित घटनाक्रमों के कारण बिहार की राजनीति में पिछड़ी जातियों का उभार हुआ। इसका एक संकेत यह है कि 1990 के पहले हुए सभी विधानसभा चुनावों में पिछड़ी जातियों की तुलना में ऊँची जातियों के सदस्य ज्यादा संख्या में चुने गये। लेकिन इसके बाद पिछड़ी जातियों के सदस्यों ने ऊँची जातियों के सदस्यों को बहुत पीछे छोड़ दिया। इसके अलावा, राज्य की राजनीति में सिर्फ सत्ता पक्ष ही नहीं बल्कि विपक्ष की धुरी पर भी पिछड़ी या दलित जातियों के नेताओं का क्रब्जा हो गया। मसलन, 1990 के बाद बिहार की राजनीति में लालू प्रसाद, नीतीश कुमार, रामविलास पासवान और सुशील कुमार मोदी आदि जैसे नेताओं का वर्चस्व हो गया। ये सभी पिछड़े समाज के पुत्र थे। दूसरे, नब्बे के दशक के बाद की राजनीति में देश के दूसरे भागों में साम्प्रदायिकता की राजनीति का उभार हुआ लेकिन बिहार में यह राजनीति अपने पैर नहीं जमा पायी। इसका सबसे प्रमुख कारण यह था कि चुनावी राजनीति की मजबूरियों के कारण यहाँ राष्ट्रीय दलों (कांग्रेस और भाजपा) को राज्य स्तरीय राष्ट्रीय जनता दल (लालू के नेतृत्व वाली पार्टी) या समता पार्टी (बाद में जनता दल-एकीकृत) की सहयोगी पार्टियाँ बनना पड़ा। 1990 पहले राज्य की राजनीति मुख्य कांग्रेस बनाम गैर-कांग्रेस पार्टियों के बीच हुआ करती थी, लेकिन इसके बाद धीरे-धीरे यह राजनीति पहले लालू बनाम अन्य और बाद में लालू बनाम नीतीश में तब्दील हो गयी।

1990 से 2005 तक बिहार की राजनीति में लालू का वर्चस्व रहा। इस दौर में वे या उनकी पत्नी राबड़ी देवी राज्य की मुख्यमंत्री रही। लेकिन इस दौर में पिछड़ी जातियों का उभार होने के बावजूद राज्य विकास के अन्य मानकों में पिछड़ता चला गया। इस दौर में राज्य में अनेकों घोटाले हुए। नये उद्योग नहीं लगे, पुराने कारखाने बंद होते चले गये। सड़क और आम जनजीवन के दूसरी सुविधाओं की स्थिति भी खराब रहीं। पिछड़ी जातियों के भीतर भी यह सवाल सामने आने लगा कि क्या लालू का शासन सिर्फ एक पिछड़ी जाति यानी यादवों के वर्चस्व वाला शासन है। इसी दौर में नीतीश कुमार का उभार हुआ। इसे हम राज्य की राजनीति का चौथा या हालिया दौर मान सकते हैं। नीतीश कुमार खुद एक पिछड़ी जाति (कुर्मी) से संबंधित हैं। उन्होंने 1994 से 2005 तक- तत्कालीन एक दशक से ज्यादा तक खुद को लालू विरोधी राजनीति के मुख्य अगुआ और पिछड़ी जातियों में वैकल्पिक धुरी के रूप में

स्थापित करने की कोशिश की। इन्होंने न सिर्फ पिछड़ी जातियों का वैकल्पिक नेतृत्व खड़ा किया बल्कि मुख्यमंत्री के रूप में सुशासन के उन पहलुओं पर बहुत ज्यादा ध्यान दिया जिसकी उपेक्षा लालू-राबड़ी के द्वारा की गयी। इसी कारण 2010 के चुनावों में इनके नेतृत्व वाले राजग गठबंधन को ऐतिहासिक और बेजोड़ सफलता मिली। इस संदर्भ में तीन बातें उल्लेखनीय हैं— पहला, 2005 के बाद की राजनीति में जैसे कुछ मुद्दों ने ज्यादा जोर पकड़ा जिनकी चर्चा लालू-राबड़ी शासन के दौर के आखिरी वर्षों में होने लगी थी। मसलन, पसमांदा मुसलमानों और अति-पिछड़ी जातियों का सवाल। नीतीश ने अपने सरकार के कार्यक्रमों के माध्यम से इन सवालों को और आगे बढ़ाया। इसके अलावा, नीतीश ने अपनी पहल पर दलितों में भी ज्यादा पिछड़े समूहों को 'महादलित' के रूप में चिह्नित किया और उनके लिए अलग से योजनाएँ बनवाईं। दूसरा, बिहार की राजनीति में 'विकास और सुशासन' सबसे प्रमुख मुद्दा बन गया। तीसरा, राज्य की राजनीति में 1990 के बाद राष्ट्रीय राजनीतिक दलों के राज्य स्तरीय दलों का सहयोगी या छोटी राजनीतिक शक्ति के रूप में रहने की परिघटना अभी भी क्रायम रही, बावजूद इस तथ्य के कि 2010 के विधानसभा चुनावों में नीतीश कुमार की सहयोगी पार्टी भाजपा को भी अच्छी खासी सफलता मिली है। इन चुनावों में नीतीश की पार्टी को 115 सीटों पर जीत मिली और इसके सहयोगी भाजपा को 91 सीटों पर जीत मिली। लेकिन आमतौर पर यह स्वीकार किया कि दरअसल यह नीतीश की सफलता थी।

भाजपा में नरेंद्र मोदी के नेतृत्व जाने की सम्भावना देख कर नीतीश कुमार ने जून, 2013 में भाजपा से अपने संबंध तोड़ लिए। इस घटना ने बिहार की राजनीति में एक नये कोण का समावेश कर दिया है। आने वाला समय भाजपा और नीतीश कुमार की पार्टी के लिए चुनौतीपूर्ण होगा।

देखें : असम, अरुणाचल प्रदेश, आंध्र प्रदेश, उत्तर प्रदेश, उत्तराखण्ड, ओडीशा, कर्नाटक, केरल, गुजरात, छत्तीसगढ़, जम्मू और कश्मीर, झारखण्ड, तमिलनाडु, त्रिपुरा, दिल्ली, नगालैण्ड, पश्चिम बंग, पंजाब, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, मणिपुर, मिजोरम, मेघालय, भारतीय संघवाद, राजस्थान, राज्यों का पुनर्गठन-1, 2 और 3, राज्यों की राजनीति, संघवाद, हरियाणा।

संदर्भ

1. प्रसन्न कुमार चौधरी और श्रीकांत (2005), *स्वर्ग पर धावा : बिहार में दलित आंदोलन, 1912-2000*, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.
2. कमल नयन चौबे (2008), *जातियों का राजनीतीकरण : बिहार में पिछड़ी जातियों के उभार की दास्तान*, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.
3. संजय कुमार (2009), 'पिछड़ी जातियों की राजनीति का नया दौर', संकलित, अरविंद मोहन (सम्पा.), *लोकतंत्र का नया लोक : चुनावी राजनीति में राज्यों का उभार*, भाग-1, वाणी प्रकाशन, लोकनीति-सीएसडीएस, नयी दिल्ली.

— कमल नयन चौबे

बुजुर्गियत का समाजशास्त्र

(Sociology of Ageing)

बुजुर्गियत का समाजशास्त्र एक विस्तृत विषय है जिसमें बुजुर्गियत का एक प्रक्रिया तथा जीवन-अवधि के एक विशेष चरण के तौर पर अध्ययन किया जाता है। इसमें बुजुर्गियत की स्थूल, मध्यवर्ती तथा सूक्ष्म स्तरों पर पड़ताल की जाती है। उदाहरण के लिए स्थूल स्तर पर भिन्न-भिन्न समाजों में आयु की संरचना, मध्यवर्ती स्तर पर कामगारों और परिवार की संरचना, तथा सूक्ष्म स्तर पर बुजुर्ग व्यक्ति के स्वास्थ्य और खुशहाली का अध्ययन किया जाता है। शोध-पद्धति की दृष्टि से बुजुर्गियत के अध्ययन में जीवन-तालिका, सर्वेक्षण, नृजातिवर्णन तथा अवलोकन आदि जैसी कई पद्धतियाँ अपनायी जाती हैं। इस विषय पर पिछले लगभग पचहत्तर वर्षों से वैज्ञानिक शोध-कार्य चलते रहे हैं। इससे अंदाजा लगाया जा सकता है कि शोध की दृष्टि से यह एक महत्वपूर्ण विषय रहा है।

किसी समाज की आयु की संरचना संबंधित आयु-समूह के आकार पर आधारित होती है। इस नाते उसे उर्वरता तथा मृत्यु-दर के संदर्भ में भी रखकर देखा जा सकता है। डेमोग्राफिक ट्रांज़िशन का सिद्धांत समाज की आयु-संरचना और विकास यानी उद्योगीकरण, शहरीकरण तथा तकनीकी उन्नयन के आपसी संबंधों का खाका खींचता है। इस सिद्धांत के अनुसार जनसंख्या के संक्रमण की प्रक्रिया तीन चरणों में घटित होती है। पहले चरण में आधुनिकीकरण से पूर्व और उसके शुरुआती वर्षों में प्रजनन तथा मृत्यु-दर दोनों ही ऊँची होती है। इस चरण में आयु की संरचना का रूप पिरामिड जैसा होता है जिसमें बच्चों की संख्या अन्य सभी आयु-समूहों में सबसे ज्यादा होती है और परिपक्व वयस्कों की संख्या सबसे कम होती है।

दूसरे चरण यानी आधुनिकीकरण के दौरान मृत्यु दर घट जाती है लेकिन प्रजनन दर ऊँची बनी रहती है। नतीजतन इसमें युवा आयु-वर्ग के समूहों सहित पूरी जनसंख्या का आकार बढ़ जाता है। इस चरण में निर्भरता-दर यानी श्रम के बाज़ार की कुल जनसंख्या और शेष समाज में बच्चों और परिपक्व वयस्कों का अनुपात ऊँचा रहता है। इस चरण का एक अन्य लक्षण यह भी है कि इसमें बच्चों की प्रमुखता रहती है।

तीसरा चरण एक ऐसी अवस्था को इंगित करता है जिसमें समाज में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया अपने शिखर पर पहुँच जाती है। इस चरण में मृत्यु-दर के साथ प्रजनन-दर भी घटती जाती है। इस चरण के बारे में जनसंख्या संक्रमण के

सिद्धांत का कयास यह है कि इसमें जनसंख्या का आकार स्थिर होने लगता है और मृत्यु तथा प्रजनन की दर एक समान होने लगती है। इस अवस्था में जनसंख्या का आकार पिरामिड के बजाय बेलनाकार हो जाता है। जिसका अर्थ यह है कि इस अवस्था में सभी आयु-वर्गों का आकार एक जैसा हो जाता है।

यहाँ यह जानना महत्वपूर्ण है कि संक्रमण-सिद्धांत के पहले दो चरणों का औचित्य अध्ययनों के आँकड़ों से भी साबित हो चुका है। लेकिन इसके तीसरे चरण को सिद्ध करने के लिए अभी तक पर्याप्त साक्ष्य उपलब्ध नहीं हैं। उल्लेखनीय है कि आधुनिक समाजों में मृत्यु और प्रजनन दर दोनों घट चुकी हैं परंतु प्रजनन की दर मृत्यु दर से कम रही है नतीजतन समाज में वृद्धों की संख्या का प्रतिशत अनुपात से अधिक हो गया है।

वैश्विक संदर्भ में बात करें तो अमेरिका, पश्चिमी यूरोप और ऑस्ट्रेलिया आदि की जनसंख्या संरचना में वृद्धों की प्रमुखता कुछ खास ऐतिहासिक कारणों से रही है। मसलन, दूसरे विश्व-युद्ध के बाद इन देशों में प्रजनन-दर अभूतपूर्व ढंग से बढ़ी थी। जिसके चलते बच्चों की संख्या एकाएक बहुत हो गयी थी। इसके बाद उम्मीद यह की जा रही थी कि प्रजनन दर एक बार फिर कम हो जाएगी लेकिन समवयस्कों की संख्या में आये इस उछाल से उर्वरता-दर में सम्भावित गिरावट लम्बे समय के लिए टल गयी। इसके बाद समवयस्कों का एक छोटा समूह अस्तित्व में आया जिसके कारण जनसंख्या बुजुर्गियत की तरफ बढ़ने लगी। विश्व के दूसरे हिस्सों जैसे दक्षिण अमेरिका, एशिया, और अफ्रीका में इस बीच आधुनिकीकरण की प्रक्रिया तेज़ हुई है और प्रजनन की दर में उतनी गिरावट नहीं आयी जितनी कि उम्मीद जा रही थी। जनसंख्या-संक्रमण के सिद्धांत का महत्व इस बात में निहित नहीं है कि वह कितना सटीक है। असल में उसकी अहमियत इस बात से तय होती है कि वह समाज की आयु-संरचना तथा प्रजनन और मृत्यु दर के रूप में सामाजिक बदलावों के प्रभावों को एक ज्वलंत विमर्श बनाने में सफल रहा है।

शुरुआती काल में वैज्ञानिक तथा नीति-निर्माता बुजुर्ग आयु-वर्ग के निहितार्थों को लेकर इतने सचेत नहीं थे। बेशक युवाओं की आबादी भी शेष समाज के लिए एक चुनौती होती है लेकिन बाल-कल्याण और स्कूलिंग आदि के जरिये युवाओं की खास जरूरतों को पूरा करने के लिए आधुनिक समाजों में एक सांस्थानिक ढाँचा बनता गया है, जबकि बुजुर्ग वर्ग की जीवन-स्थितियों और उनकी आवश्यकताओं को समझने में नीति-निर्माताओं और अन्य संस्थाओं काफ़ी वक्रत लगा है।

लेकिन आज जनसंख्या संबंधी शोध और अध्ययन का स्तर आयु-संरचना के विश्लेषण से आगे बढ़ चुका है। इस बीच बुजुर्गियत की परिघटना, व्याप्ति तथा अक्षमता को लेकर जो समझ विकसित हुई है उसके पीछे इस शोध की अहम भूमिका रही है।

इस तरह पिछले दो दशकों के दौरान बुजुर्गियत के कई ऐसे पहलुओं पर भी काम किया गया है जिन पर शुरुआती दौर के अध्येता ध्यान नहीं दे पाये थे। मसलन, अध्ययनों से पता चला है कि पिछले बीस वर्षों में बुजुर्गों में अक्षमता की दर में लगातार कमी आयी है। शोध से एक अन्य निष्कर्ष यह भी निकला है कि महिलाओं में अक्षमता की दर इसलिए ज्यादा होती है क्योंकि उनकी औसत आयु पुरुषों से ज्यादा पायी गयी है। विकसित देशों में जीवन-प्रत्याशा और सक्रिय जीवन-प्रत्याशा के अंतर को लेकर खासा महत्वपूर्ण शोध हुआ है। सक्रिय जीवन की प्रत्याशा में शोधकर्ताओं की दिलचस्पी बढ़ने का कारण यह भी रहा है कि आधुनिक समाजों में बुजुर्गियत के साथ जुड़ी अक्षमताओं के बावजूद उनके जीवन की अवधि में वृद्धि हुई है। साक्ष्यों से पता चलता है कि पिछले कई दशकों से बुजुर्गों में मृत्यु से पहले शुरू हो जाने वाली अक्षमता की अवधि में इजाफा नहीं हुआ है। लेकिन इसके साथ यह भी एक तथ्य है कि इस दौरान मृत्यु और अक्षमता की शुरुआत होने की अवधि के अंतर में भी कोई खास गिरावट नहीं आयी है।

बुजुर्गियत से संबंधित समकालीन समाजशास्त्रीय शोध के बड़े हिस्से का प्रमुख सरोकार यह रहा है कि बुजुर्गियत की ओर बढ़ते समाज को कैसे समझा जाए। धन के सार्वजनिक और निजी हस्तांतरण, समय और वस्तुओं को मुहैया कराने से जुड़ी सेवाओं का अध्ययन अब इस दृष्टि से किया जा रहा है कि उनसे बुजुर्गों के जीवन-यापन को कैसे सहारा मिलता है। इस संबंध में बुजुर्गों के स्वास्थ्य, जीवन-स्तर तथा और उनकी अक्षमताओं का अध्ययन इस नाते भी महत्वपूर्ण है क्योंकि इससे सिर्फ यह पता नहीं चलता कि बुजुर्गों की खुशहाली में क्या-क्या अड़चनें हैं बल्कि उनसे यह भी जाहिर होता है कि बुजुर्गों के लिए सार्वजनिक कार्यक्रमों के समाज और परिवार की संस्थाएँ क्या-क्या कर रही हैं। इस तरह आयु की संरचना और उसके सामाजिक निहितार्थों को बुजुर्गियत के अध्ययन की एक महत्वाकांक्षी और दूरगामी शाखा कहा जा सकता है।

समवयस्कता का महत्त्व और संदर्भ बुजुर्गियत की प्रक्रिया और उसका अनुभव कई तरह की सामाजिक और गैर-सामाजिक शक्तियों से तय होता है। ऐतिहासिक तौर पर बुजुर्गियत की प्रक्रिया को शरीर की प्रकृति और विकास के संदर्भ में देखा जाता था। इतिहास के अलग-अलग कालखण्डों में बुजुर्गियत का अनुभव और उसकी प्रक्रिया को

लेकर भिन्न-भिन्न ढंग की मान्यताएँ प्रचलित थीं। आज यह कल्पना करना मुश्किल है कि एक समय रिटायरमेंट जैसी कोई स्थिति ही नहीं होती थी तथा मृत्यु केवल बुजुर्गियत से नहीं जुड़ी थी बल्कि वह हर आयु-वर्ग जैसे बचपन और यौवन में भी घटती रहती थी। रिटायरमेंट और बुजुर्गियत के जीवन से जुड़ी बहुत सारी विषमताएँ बीसवीं सदी की देन हैं।

बुजुर्गियत के अध्ययन में समवयस्कता की अवधारणा विशेष महत्त्व रखती है। इससे अध्येता को बुजुर्गियत के ऐसे अंतर्निहित घटकों और साँचों के अवधारणात्मक व वस्तुगत बिंदुओं के बीच अंतर करने की सहूलियत मिलती है जो सामाजिक कारणों से जन्म लेते हैं। इस संबंध में यह संकेत करना शायद जरूरी है कि बुजुर्गियत पर सामाजिक बदलावों और इतिहास की कुछ खास घटनाओं या परिस्थितियों का व्यापक असर पड़ता है।

हालाँकि समवयस्कता के लिए किसी भी घटना को आधार बनाया जा सकता है लेकिन मूलतः समवयस्क उन्हीं लोगों को माना जाता है मौटे तौर पर एक ही समय या उसके आसपास पैदा हुए हों। समय की समानता के अलावा ऐतिहासिक घटनाओं और सामाजिक संरचनाओं को लेकर भी समवयस्कों के अनुभव पूरे जीवन एक जैसे होते हैं। समवयस्कों के सामूहिक अनुभव अक्सर उनसे पहले और बाद की पीढ़ी से अलग होते हैं। इसलिए बुजुर्गियत की प्रक्रिया और अनुभवों के रूप समवयस्क समूहों के बीच भी अलग-अलग होते हैं। पश्चिमी देशों में युद्ध जैसी ऐतिहासिक घटनाओं का समवयस्क समूहों के जीवन पर बहुत गहरा प्रभाव रहा है। वैसे इतिहास की एक जैसी घटनाओं का साक्षी होने के बावजूद उनका असर इस बात से तय होता है कि उक्त घटना के समय संबंधित लोगों की उम्र क्या थी।

समवयस्क समूहों की भिन्नताएँ सामाजिक बदलावों से भी निर्धारित होती हैं। अध्ययन बताते हैं कि सामाजिक बदलाव की रफ्तार जितनी तेज होती है समवयस्क बुजुर्गों के बीच के अंतर उतने ही विस्तृत होते जाते हैं। पश्चिमी देशों में सामाजिक सुरक्षा तथा चिकित्सा सुविधाओं जैसे सामाजिक बदलावों से बुजुर्गों का आर्थिक जीवन अलग ढंग से बदला है, जबकि भारत जैसे देशों में बुजुर्गों के जीवन पर खेतिहर जीवनशैली के औद्योगिक रूपांतरण तथा इधर के वर्षों में सेवाओं की अर्थव्यवस्था के उदय की गहरी छाप देखी जा सकती है। बुजुर्गियत पर इन घटकों के अलावा तकनीकी बदलावों का भी असर पड़ता है। मसलन, शारीरिक श्रम और घरेलू काम को आसानी से निपटाने में मदद करने वाले तकनीकी उपकरणों के निर्माण से बुजुर्ग लोगों की दूसरों पर निर्भर रहने की मजबूरी कम हुई है। ऐसे बदलावों का उनकी स्वतंत्रता और सक्षमता पर सकारात्मक असर होता है। पर यहाँ यह भी एक तथ्य है कि बुजुर्गों को नयी तकनीक से

परिचित होने में सामान्य से ज्यादा समय लगता है।

बुजुर्गों की जीवन-स्थितियों का तुलनात्मक अध्ययन पश्चिमी देशों में समाजशास्त्रीय शोध का एक अहम हिस्सा रहा है। अध्येताओं ने इस संदर्भ में सम्पत्ति और ज़िम्मेदारियों के विशेष अध्ययन के अलावा समवयस्क बुजुर्गों के राजनीतिक रुझान और उनकी पारिवारिक संरचना को भी शोध का विषय बनाया है। अगर एक स्थूल निष्कर्ष उठाया जाए तो कहा जा सकता है कि पश्चिमी देशों में पिछले पाँच दशकों के दौरान बुजुर्गों का जीवन अपने परवर्ती या उत्तरवर्ती बुजुर्गों की तुलना में ज्यादा सुविधाजनक और आरामदेह रहा है। यह बात स्वास्थ्य, शिक्षा, और सामाजिक सहायता की उपलब्धता के मामले में खास तौर पर लक्षित की जा सकती है। लेकिन कुछ अध्येताओं का कहना है कि सुविधा और सम्पन्नता की यह तस्वीर आगामी समय में इतनी रंगीन नहीं रह जाएगी। उनके अनुसार दूसरे विश्व-युद्ध के युवा अपनी बुजुर्गियत में उतने सुविधा-सम्पन्न नहीं रह जाएँगे। जबकि अन्य विद्वानों का मानना है कि यह स्थिति तब तक बरकरार रहेगी जब तक उस दौर के युवा वर्ग की संतानें खुद बुजुर्गियत की श्रेणी में शामिल नहीं हो जाती। बहरहाल, इस मामले में औसत राय यह है कि बुजुर्गों की जीवन-स्थितियों का यह ढाँचा अगले पचास वर्षों में जाकर बदलेगा।

गौरतलब है कि बुजुर्गियत के समाजशास्त्रीय अध्ययन में खुशहाली की अवधारणा एक अनिवार्य घटक के रूप में उभरी है। खुशहाली को मोटे तौर पर जीवन के प्रति संतुष्टि के भाव और आर्थिक संसाधनों जैसे सामाजिक और आर्थिक सम्पत्ति की उपलब्धता के रूप में व्याख्यायित किया जा सकता है। बुजुर्गियत के संदर्भ में अगर खुशहाल जीवन की एक आंशिक सूची बनायी जाए तो उसमें दीर्घायु, अच्छी सेहत, शारीरिक सक्षमता, मानसिक स्वास्थ्य, व्यक्तिगत संतुष्टि के भाव, आर्थिक हैसियत, आत्मगत पहचान आदि को शामिल किया जा सकता है। अध्येताओं का मानना है कि खुशहाली के अध्ययन में यह पहलू भी शामिल किया जाना चाहिए कि बुजुर्ग व्यक्ति अपने बारे में क्या सोचते हैं। दूसरे शब्दों में, अपने अस्तित्व को लेकर उनका रुझान कैसा रहता है। इस संबंध में मुख्यतः दो सूत्रों- आत्म सम्मान की भावना तथा किसी काम को करने की सक्षमता, नियंत्रण और कौशल आदि को शामिल किया जाता है। पारम्परिक समाजशास्त्री आत्म सम्मान से जुड़े चिंतन को मनोविज्ञान का क्षेत्र समझते थे लेकिन अब इस बात के पर्याप्त सुबूत उपलब्ध हैं कि आत्म की धारणा एक-एक सामाजिक निर्मिति भी है।

बुजुर्गियत और खुशहाली के अंतर्संबंधों से संबंधित अध्ययन मुख्यतः तीन दिशाओं में विकसित हुआ है। कुछ अध्ययनों में बुजुर्गों और युवाओं की खुशहाली का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। ऐसे शोध अध्ययनों में

गरीबी, शारीरिक बीमारियों, अक्षमताओं, मानसिक बीमारियों, आत्म सम्मान की भावनाओं को आयु-वर्ग की दृष्टि से समझने का प्रयास किया गया है। लेकिन ऐसे अध्ययनों की सीमा यह है कि उनमें एक निश्चित कालखण्ड की ही पड़ताल की जाती है इसलिए उनके आधार पर यह कहना मुश्किल होता है कि इन आयु-वर्गों में दिखायी पड़ने वाले अंतर के पीछे स्वयं आयु ही कोई कारक है या फिर समवयस्कों के बीच पाये जाने वाली सामाजिक-आर्थिक भिन्नताएँ। इसके बावजूद ऐसे अध्ययनों का महत्त्व यह है कि उनसे बुजुर्गों की जीवन-दशा के बारे में विवरणात्मक सूचनाएँ जुटायी जा सकती हैं और सार्वजनिक नीति-निर्धारण की प्राथमिकताएँ तय की जा सकती हैं।

इसलिए बुजुर्गियत के प्रभावों को समझने के लिए शोध में एक अन्य पद्धति भी अपनायी जाती है। इसके तहत वयस्क आयु वर्ग के व्यक्तियों का अध्ययन पूर्ववर्ती बुजुर्गियत और उत्तरवर्ती बुजुर्गियत के अंतरों के रूप में किया जाता है। इस पद्धति की ख्यासियत यह है कि इसमें आयुगत बदलावों को सीधे देखा जा सकता है। परंतु इस पद्धति की सीमा यह है कि वह अंततः समवयस्क समूहों तक ही सिमट जाती है।

पिछले दो दशकों में बुजुर्गियत के समाजशास्त्रीय शोध में जीवन की अवधि के परिप्रेक्ष्य पर लगातार ध्यान दिया गया है। इस परिप्रेक्ष्य का प्रस्थान बिंदु यह विचार है कि जीवन की घटनाओं के सूत्र समय के साथ ही दृश्यमान होते हैं, और किसी व्यक्ति के जीवन की प्रारम्भिक घटनाओं और परिस्थितियों का प्रभाव उसके उत्तरवर्ती जीवन पर भी क्रायम रहता है। शोध पद्धति के चयन के हिसाब से बात की जाए तो जीवन अवधि से संबंधित अध्ययनों में या तो समय के लम्बे फलक पर कई तरह की गणनाएँ करनी पड़ती हैं या फिर व्यक्ति के अतीत से जुड़े आँकड़ों का अवलोकन करना पड़ता है। इस परिप्रेक्ष्य का इस्तेमाल खास तौर पर यह जानने के लिए किया जाता है कि बुजुर्गियत के दौर में व्यक्ति पर उसके जीवन की सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों का क्या प्रभाव पड़ता है। इस तरह का अध्ययन बुजुर्ग समूहों की जीवन अवधि में स्वास्थ्य संबंधी असमानताओं को समझने में भी उपयोगी पाया गया है। इस संबंध में आमतौर पर यह देखा गया है कि युवावस्था में स्वास्थ्य पर सामाजिक-आर्थिक हैसियत का उतना असर नहीं पड़ता लेकिन अमेरिका जैसे देश में सामाजिक-आर्थिक हैसियत के निम्नतम बिंदु और उच्चतम बिंदुओं का व्यक्ति के उत्तरवर्ती जीवन पर गहरा असर पड़ता है। कई अध्ययनों से यह भी पता चला है कि वास्तव में बुजुर्गियत के काल में सामाजिक और आर्थिक हैसियत का अंतर व्यक्ति के आम स्वास्थ्य में स्थाई रूप से परिलक्षित होता है।

जीवन अवधि के परिप्रेक्ष्य की एक अन्य विशेषता यह भी है कि उसमें सामाजिक, ऐतिहासिक बदलावों और व्यक्ति के निजी जीवन की जटिल कड़ियों पर फ़ोकस किया जाता है। इसके अलावा यह परिप्रेक्ष्य समाज की स्थूल और दरमियानी स्थितियों तथा व्यक्ति के व्यवहार और उसकी खुशहाली को समझने में भी मददगार साबित हुआ है। इससे बुजुर्ग व्यक्ति के जीवन में संरचनात्मक अवसरों तथा मानवीय एजेंसी की सीमाओं को समझने में भी सहायता मिली है। इस तरह जीवन अवधि के परिप्रेक्ष्य को बुजुर्गीयत के समाजशास्त्र का एक बेहद महत्वपूर्ण और दिलचस्प अंग कहा जा सकता है।

देखें : अर्थव्यवस्था का समाजशास्त्र, अभिजन, अभिरुचि, आत्महत्या, उन्मूलनवाद, एजेंसी, कर्मकाण्ड, कारागार, गोपनीयता, गृहविहीनता, जादू, जीवन-शैली, टेलरवाद, धर्म, फुरसत, बचपन, बेगानगी, भीड़, भ्रष्टाचार का समाजशास्त्र-1 और 2, विचलन, ज्ञान का समाजशास्त्र।

संदर्भ

1. जे. बूर्च्वा-पिचाट (1979), 'द डेमोग्राफ़िक ट्रांज़िशन : एजिंग ऑफ़ पॉप्युलेशन', *पॉप्युलेशन साइंस इन द सर्विस ऑफ़ मैनक्राइंड*, इंटरनैशनल यूनिवर्सिटी ऑफ़ साइंटिफ़िक स्टडी ऑफ़ पॉप्युलेशन, लीजे.
2. पी. उलेनबर्ग और एस. माइनर (1996), 'लाइफ़ कोर्स ऐंड एजिंग: ए कॉर्हॉर्ट पर्सपेक्टिव', आर.एच. बीनस्टॉक और एल.के. जॉर्ज (सम्पा.), *हैंडबुक ऑफ़ एजिंग ऐंड सोशल साइंसेज*, तीसरा संस्करण, एकेडेमिक प्रेस, सैनडियागो.

— नरेश गोस्वामी

बुद्धिसंगत चयन का सिद्धांत

(Rational Choice Theory)

बुद्धिसंगत चयन का सिद्धांत मान कर चलता है कि नागरिक बुद्धिवादी होने के कारण ही अपने लिए सबसे पसंदीदा रास्ते का चुनाव कर पाते हैं, भले ही यह पसंदीदा रास्ता उनके अपने संकीर्ण हित की नुमाइंदगी करता हो। इस सिद्धांत की दूसरी स्थापना यह है कि लोग नागरिक के रूप में संस्थागत परिवेश (जैसे, चुनावी होड़) के तहत अन्योन्यक्रिया को प्राथमिकता देते हैं। इन दो मान्यताओं के बाद बुद्धिसंगत चयन का सिद्धांत गणितीय आधार पर गढ़े गये मॉडलों के ज़रिये उन दलीलों तक पहुँचता है जिनके आधार पर सामूहिक निर्णयों (जैसे, सार्वजनिक नीतियाँ) के फलितार्थों के बारे में

अंदाज़ा लगाया जाता है। कुल मिला कर यह सिद्धांत उस केंद्रीय प्रश्न को सम्बोधित करता है जिसका मक़सद यह पता लगाना है कि व्यक्तिगत प्राथमिकताएँ किस तरह आपस में जुड़ कर निर्णय-प्रक्रिया के माध्यम से सामाजिक संतुलन हासिल करने की तरफ़ बढ़ती हैं। चाहे मसला बाज़ार की प्रक्रियाओं द्वारा उपभोक्ताओं और कम्पनियों के लिए संसाधनों के आबंटन का हो, किसी खेल में खिलाड़ियों और टीमों द्वारा रणनीतियों के चयन का हो, या फिर किसी नीतिगत मसले पर नागरिकों द्वारा पक्ष-विपक्ष में मतदान का प्रश्न हो, यह सिद्धांत इस सवाल से जूझता है कि इन सभी के सामूहिक फलितार्थों का चरित्र क्या होगा? क्या नतीजे के तौर पर कोई संतुलन प्राप्त होगा? और अगर संतुलन प्राप्त हुआ तो क्या वह स्थाई क्रिस्म का होगा? क्या वह वांछनीय होगा?

इन तमाम सवालों का जवाब आख़िरकार पेचीदा साबित होता है, क्योंकि सभी मतदाता अपना वोट डालते समय एक सी गम्भीरता और निष्ठा का प्रदर्शन नहीं करते। इसी तरह लोग अपने लिए चीज़ें चाहते तो हैं, पर हमेशा खुल कर उनकी माँग नहीं करते। इसी बात को इन शब्दों में भी कहा जा सकता है कि अक्सर लोगों को अपना हित एकजुट हो कर कार्रवाई करने के बजाय अलग-अलग रहने में लगता है, और वे अपनी प्राथमिकताएँ खुल कर बताने के बजाय रणनीतिक कौशल दिखाते हुए ही व्यक्त करना पसंद करते हैं। जाहिर है कि संदर्भ चाहे अर्थशास्त्रीय हो या राजनीतिक, इस सिद्धांत को ऐसी परिस्थितियों से निबटना पड़ता है जिनमें लोगों की प्राथमिकताएँ साफ़ तौर से पता नहीं होतीं।

बुद्धिसंगत चयन के सिद्धांत ने पचास और साठ के दशकों में राजनीतिशास्त्र में अपनी महत्वपूर्ण जगह बनायी। दो विश्व-युद्धों की विभीषिका झेलने के बाद यह दौर विज्ञान और बुद्धिवाद की आलोचना का था। इस माहौल में अर्थशास्त्रियों और गणितज्ञों ने मिल कर इस प्रश्न पर विचार किया कि व्यक्तियों की कोई टीम और कोई सामूहिकता आख़िर किसी निर्णय पर कैसे पहुँचती है। इन विद्वानों का यह ऊहापोह ही बुद्धिसंगत चयन के सिद्धांत का आधार बना। मान लीजिये कि किसी निश्चित संसाधन को आपस में आबंटित करने का फ़ैसला दो-तीन लोग मिल कर करते हैं। उनके बीच समझौता होने के बाद उसका कार्यान्वयन भी कर दिया जाता है। सवाल उठता है कि उनके बीच किस तरह का गठजोड़ बनेगा और संसाधन का किस तरह बँटवारा किया जाएगा। 1953 में गणितज्ञ जॉन वान न्यूमान और अर्थशास्त्री ऑस्कर मोरगेस्टर्न ने इस प्रश्न का उत्तर खोजते हुए कई सूत्रीकरण किये। इसी बिना पर किये अनुसंधान ने सामूहिक कार्रवाई और मिल-जुल कर चयन संबंधी निर्णय लेने के कई सिद्धांत विकसित हुए। मिसाल के तौर पर कैनेथ एरो द्वारा विकसित किये गये सामाजिक चयन के सिद्धांत, 1957 में

एंथनी डाउसन के चुनाव संबंधी सिद्धांत और 1960 के डिटरेंस संबंधी सिद्धांत का जिक्र किया जा सकता है। जल्दी ही बुद्धिसंगत चयन का सिद्धांत एक बड़े अनुसंधान कार्यक्रम का केंद्रीय प्रत्यय बन गया। राजनीतिशास्त्र के चार प्रमुख आयामों (अमेरिकी राजनीति, अंतर्राष्ट्रीय संबंध, तुलनात्मक राजनीति और राजनीतिक सिद्धांत) में उसकी उल्लेखनीय उपस्थिति दर्ज हुई। कई राजनीतिशास्त्रियों ने तो इसे सामाजिक सिद्धांत और अनुसंधान पद्धति के रूप में देखने के साथ-साथ समाज-विज्ञान के दर्शन का दर्जा तक दे दिया।

राजनीतिशास्त्रियों के बीच इस सिद्धांत की कामयाबी एक वजह यह भी है कि इसमें न तो बुद्धिवाद को पूरी तरह से टुकराने की प्रवृत्ति थी, और न ही यह बुद्धिवाद की मातहत स्वीकार करता है। सामाजिक परिघटनाओं के कारणों और उनके आधारभूत तर्कों की जाँच करते हुए यह सिद्धांत खुद को तथ्यगत और मानकीय के बीच कहीं स्थित करने में यत्न करता है। हालाँकि इसे बुद्धिसंगत चयन का सिद्धांत कहा जाता है, पर यह बुद्धिवाद को किसी भी तरह से सम्पूर्ण दर्शन नहीं मानता। यह राजनीति के ठोस संस्थागत दायरों में तथ्यगत विश्लेषण की सीमाओं पर प्रकाश डालता है।

दरअसल, राजनीतिशास्त्र में तथ्यगत और मानकीय के बीच पुल बनाने में इस सिद्धांत की प्रमुख भूमिका है। इस सिलसिले में अर्थशास्त्री पॉल सेमुअलसन के योगदान का जिक्र करना ज़रूरी है। चालीस के दशक में सेमुअलसन ने गणितीय अर्थशास्त्र और सैद्धांतिक अर्थशास्त्र के संयोग की वकालत की थी। उनके प्रभाव के कारण सैद्धांतिक अर्थशास्त्र ने गणितीय मॉडलों का इस्तेमाल करना शुरू किया। बुद्धिसंगत चयन का सिद्धांत अर्थशास्त्र के इस पहलू से काफ़ी-कुछ लेता है। उससे निकली हुई अंतर्दृष्टियों का राजनीतिशास्त्रियों द्वारा नीतिगत फलितार्थों, राजनीतिक सहभागिता, गवर्नेंस, समतामूलकता, दक्षता, लोकतंत्र और न्याय संबंधी मूल्यांकनों के लिए प्रयोग किया जाता है। इस सिद्धांत को लागू करते हुए राजनीतिशास्त्री मुख्यतः गेम थियरी और एग्जियामैटिक थियरी यानी स्वयंसिद्धि के सिद्धांत से निकले पद्धतिमूलक रवैये पर चलते हुए तीन तरह की समस्याओं से जूझते हैं तो आम तौर पर सामाजिक चयन के रास्ते में आती हैं। ये हैं सामूहिक कार्रवाई, सामूहिक चयन और सामूहिक संस्थाओं से जुड़ी समस्याएँ।

बुद्धिसंगत चयन के सिद्धांत को कई तरह की आलोचनाओं का सामना भी करना पड़ा है। ये आलोचनाएँ मुख्यतः तीन क्रिस्म की हैं। पहले क्रिस्म की आलोचना इस मान्यता को आड़े हाथों लेती है कि लोग सदैव अपने संकीर्ण हित के पक्ष में ही निर्णय लेते हैं। जबकि असलियत यह है कि ऐसा हमेशा नहीं होता, क्योंकि मानवीय व्यवहार की

संरचना काफ़ी संकुल होती है। दूसरों के प्रति सरोकार होने के कारण व्यक्तियों के निर्णयों पर गहरा असर पड़ता है। दूसरी आलोचना कहती है कि इस सिद्धांत को लागू करने में कई बार मनमाने तौर-तरीकों का इस्तेमाल किया जाता है, जबकि दिखावे के तौर पर यह कई तरह की बारीकियों और संतुलनों का दावा करता है। मसलन, अगर व्यक्तियों के बीच होने वाली अन्योन्यक्रिया के क्रम में तब्दीली कर दी जाए तो तो उनके द्वारा किये जाने वाले फ़ैसलों में भी बड़ी तब्दीली हो सकती है। लेकिन, बुद्धिसंगत चयन के हामी इस क्रम को बदलने से पैदा होने वाली सम्भावनाओं पर गौर करने के लिए तैयार नहीं होते। वे अन्योन्यक्रिया का मॉडल पहले ही बना लेते हैं, और फिर उसके मुताबिक सिद्धांत लागू करते चले जाते हैं। इसी तरह ये लोग यह भी नहीं देखते कि लोगों की प्राथमिकताएँ किस तरह से बदलती हैं और उनके परिवर्तन से इस थियरी के पूर्वानुमानों पर किस तरह का नाटकीय असर पड़ता है।

तीसरी आलोचना यह है कि बुद्धिसंगत चयन का सिद्धांत मानवीय व्यवहार-शैली के महत्वपूर्ण तत्वों को समझने या उनकी व्याख्या करने में विफल रहा है। मसलन, यह सिद्धांत के मतदाताओं द्वारा वोट डालने के फ़ैसले की व्याख्या नहीं कर सकता। एक वोटर का फ़ैसला चुनाव के परिणाम पर अत्यंत सूक्ष्म असर ही डाल सकता है। अगर कोई वोटर तय करता है कि वह मतदान करने नहीं जाएगा तो उसका चुनाव नतीजे पर निहायत मामूली असर भी शायद न पड़े। दूसरे वोटर को मत देने के लिए समय और संसाधन भी खर्च करने पड़ते हैं। अपने अकेले वोट की काफ़ी कम प्रभावकारिता और वोट डालने में होने वाले खर्च के बावजूद लोग वोट डालने जाते हैं, बावजूद इसके कि वोट डालने से होने वाले लाभ बेहद अनिश्चित होते हैं। रैशनल चॉयस थियरी यह प्रश्न का उत्तर देने में विफल साबित हुई है।

बुद्धिसंगत चयन के सिद्धांतकारों ने इन आपत्तियों का जवाब इस प्रकार दिया है : हालाँकि लोग अपने संकीर्ण हितों को ही प्राथमिकता देते हैं, लेकिन रैशनल चॉयस थियरी यह नहीं मानती कि ऐसा हमेशा होता है। यह थियरी इस बात से इनकार नहीं करती कि दूसरों के प्रति सरोकार भी व्यक्ति की मान्यताओं और प्राथमिकताओं को प्रभावित करते हैं। इसीलिए लोग परोपकार की तरफ रुझान रखते हैं और इसीलिए लोग सम्पत्ति के न्यायपूर्ण और समतामूलक पुनर्वितरण के समर्थक होते हैं।

देखें : अर्थव्यवस्था का समाजशास्त्र, अभिजन, अभिरुचि, आत्महत्या, उन्मूलनवाद, एजेंसी, कर्मकाण्ड, कारागार, गोपनीयता, गृहविहीनता, जादू, जीवन-शैली, टेलरवाद, परम्परा, परस्पर विपरीत द्विभाजन, प्रति- (संस्कृति, विमर्श, इतिहास, वर्चस्व, स्मृति), प्राइवैसी, प्रौद्योगिकी, फुरसत, बचपन, बहुपत्नी प्रथा, बहुपति प्रथा, बुजुर्गियत का

समाजशास्त्र, बेगानगी, भीड़, भ्रष्टाचार का समाजशास्त्र-1 और 2, सेवानिवृत्ति, विचलन, ज्ञान का समाजशास्त्र।

संदर्भ

1. के.ए. शेप्सले और एम.एस. बोनचेक (1997), *ऐनालाइजिंग पॉलिटिक्स : रेशनलिटी, बिहेवियर, एंड इंस्टीट्यूशंस*, डब्ल्यू. डब्ल्यू. नॉटन, न्यूयॉर्क.
2. डी. ग्रीन और आई. शैप्रियो (1994), *पैथोलॉजी ऑफ रेशनल चॉयस थियरी : अ क्रिटिक ऑफ एप्लीकेशंस इन पॉलिटिकल साइंस*, येल युनिवर्सिटी प्रेस, न्यू हैविन, सीटी.
3. सी.एफ. कैमरर (2003), *बिहेवियरल गेम थियरी*, प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन, ऐनजे.
4. जॉन एल्स्टर (2007), *एक्सप्लेनिंग सोशल बिहेवियर : मोर नट्स एंड बोल्ड्स फॉर द सोशल साइंसिज*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

— अभय कुमार दुबे

बुद्धिवाद

(Rationalism)

युरोपीय ज्ञानोदय की बौद्धिक विरासत मानवीय व्यवहार के वस्तुनिष्ठ और बुद्धिसंगत रूपों को उसके आत्मगत और भावनाप्रधान रूपों पर प्राथमिकता देती है। ज्ञानोदय के चिंतकों को यकीन था कि मानवीय समाज का एक बुद्धिसंगत आख्यान रचा जा सकता है जिसके आधार पर अन्याय, क्रूरता, पूर्वग्रह और मिथकीय चिंतन जैसे अविवेकी आयामों का उन्मूलन किया जा सकेगा। इस तरह ज्ञानोदय का एजेंडा विवेक और विवेकहीनता के बीच संघर्ष के कार्यक्रम के तौर पर उभरता है। लेकिन ज्ञानोदय की यह प्रचलित तस्वीर बुद्धिवाद के दार्शनिक उद्गम की जानकारी नहीं देती। दर्शन के क्षेत्र में बुद्धिवाद का इतिहास बुद्धि के भावना से संघर्ष का न हो कर बुद्धिगत और इंद्रियगत के बीच प्राथमिकता के प्रश्न से जुड़ा है। ज्ञान के मुख्यतः दो रूप माने गये हैं : इंद्रिय-आधारित और बुद्धि-आधारित। बुद्धि-आधारित ज्ञान को ही वास्तविक यथार्थ के रूप में अहमियत देने वाला बुद्धिवादी कहलाता है। बुद्धिवाद को हिंदी में विवेकवाद, तर्कणावाद या तर्क-बुद्धिवाद के नाम से भी जाना जाता है। जिस तरह इंद्रियानुभव में अतिशय विश्वास रखने वाले उसी को ज्ञान का एकमात्र स्रोत मानने लगते हैं, उसी तरह बुद्धि की क्षमताओं पर हद से ज्यादा यकीन करने वाले उग्र-बुद्धिवादियों की श्रेणी में आते हैं। दर्शनशास्त्र में इंद्रियों की पूरी तरह से उपेक्षा

करने वाले बुद्धिवादियों को थोड़े उपहास के साथ देखा जाता है। कार्ल मार्क्स ने कहा था कि रेशनलिस्ट खुद के ही व्यंग्य-चित्र होते हैं। यह दूसरी बात है कि बुद्धिवादी होने के लिए अपना ही कार्टून होना जरूरी नहीं है। सिर्फ यह दावा करना काफी है कि हमारे ज्ञान का एक हिस्सा ऐसा होता है जिसे हम इंद्रियों के माध्यम से प्राप्त नहीं कर सकते।

बुद्धिवाद और इंद्रियानुभववाद पर होने वाली प्रचलित बहस से परे जा कर देखा जाए तो स्पष्ट हो जाता है कि ज्ञानमीमांसा के इन दोनों रूपों ने मिल कर ईश्वर, प्रकृति, विज्ञान और मानवीय विकास से संबंधित चिंतन की नींव रखी है। रेने देकार्त, निकोलस मैलेब्रैंश, बारूश स्पिनोज़ा और जी.डब्ल्यू. लीबिन्ज़ बुद्धिवादी दर्शन के श्रेष्ठ प्रवक्ता माने जाते हैं। इन बुद्धिवादियों के लिए ज्ञान का प्रतिमान संबंधी आधार गणित और तर्कशास्त्र था। जहाँ जरूरत पड़ी इन दार्शनिकों ने सत्य की खोज के लिए अंतःप्रज्ञा और बुद्धिसंगत अनुमान का भी इस्तेमाल किया।

गैर-पश्चिमी दर्शन में भी बुद्धि और ज्ञान के बीच के रिश्तों की कई व्याख्याएँ मिलती हैं, लेकिन बुद्धि के किसी वाद के सूत्रीकरण का संकेत नहीं मिलता। दरअसल, ये दर्शन ज्ञान को बुद्धिपरक और इंद्रियपरक में विभाजित न करके उसकी अधिक जटिल व्याख्या करते हैं। बौद्ध दर्शन में बुद्धि के बजाय प्रज्ञा की अवधारणा विकसित की गयी है जिसके जरिये यथार्थ की सच्ची प्रकृति में झाँका जा सकता है। बौद्ध चिंतक नागार्जुन के अनुसार प्रज्ञा की उपलब्धि के तीन चरण होते हैं। पहले दो चरणों का संबंध ज्ञान से है जिसे यथार्थ की प्रकृति के अध्ययन, स्वतंत्र चिंतन-मनन और विश्लेषण से हासिल किया जा सकता है। यह प्रक्रिया विकसित होते-होते व्यक्ति को एक ऐसी अवस्था में पहुँचा देती है जिससे हर वस्तु में निहित शून्यता की समझ पैदा हो सकती है। ध्यान रहे बौद्ध दर्शन के लिए शून्यता की अवधारणा का केंद्रीय महत्त्व है। निर्वाण या ज्ञान की उपलब्धि भी शून्य की चेतना के बिना नहीं हो सकती। गैर-पश्चिमी दर्शन की इस्लामिक शाखा बुद्धि को व्यावहारिक और सैद्धांतिक की श्रेणियों में बाँटती है। व्यावहारिक बुद्धि वह है जो व्यक्ति, उसके परिवार और राज्य के हित-साधन के लिए ज्ञानार्जन करती है। सैद्धांतिक बुद्धि ज्ञान के सार्वभौम आधार पर ध्यान देती है। इस विभाजन के अलावा बुद्धि को भौतिक, सम्भावित, वास्तविक, अर्जित और सक्रिय की श्रेणियों में भी बाँटा गया है।

पश्चिमी दर्शन में बुद्धि और ज्ञान के संबंध पर ऊहापोह प्लेटो के ज़माने से चला आ रहा है। प्लेटो की मान्यता थी कि इंद्रियों से मिलने वाला ज्ञान आभास, प्रतीति और मत-मतांतर पर निर्भर होता है; जबकि बुद्धि के जरिये

सच्चे ज्ञान की प्राप्ति होती है। एक तरह से प्लेटो यह कहते हैं कि ज्ञान की इंद्रियगत प्राप्ति कुल मिला कर उसकी बुद्धिगत प्राप्ति पर ही निर्भर है। प्लेटो के विचार-सिद्धांत के मुताबिक व्यक्ति के मनोविज्ञान या रुझानों से परे जिस यथार्थ का अस्तित्व है, उसमें लगातार एक सातत्य रहता है। इसके उलट इंद्रियगत यथार्थ हमेशा परिवर्तन के मातहत रहने के लिए मजबूर है। इस प्रकार प्लेटो के मुताबिक यथार्थ की प्रकृति मूलतः वस्तुनिष्ठ और बुद्धिगत है। देकार्त ने भी प्लेटो के विचार से सहमत होते हुए दावा किया कि यथार्थ का मूल्यांकन बुद्धिसंगत कसौटियों पर आधारित चिंतन से ही किया जाना चाहिए। देकार्त मानते थे कि मनुष्य की इयत्ता और चेतना उसकी बुद्धिसंगत चिंतन-क्षमता से ही बनती है।

बुद्धिवाद की इन दावेदारियों से अलग हटते हुए जॉन लॉक और डेविड ह्यूम ने इंद्रियों के अनुभव को ज्ञान का स्रोत बताया। यह देकार्तीयन बुद्धिवाद के ऊपर इंद्रियानुभववाद की दावेदारी थी। ज्ञानोदय के विचार की रचना इन दोनों से ज़रूरत के मुताबिक लेते हुए की गयी। इन दोनों के बीच पुल बनाने की काम कांट ने किया। उन्होंने माना कि अनुभव के आधार पर ज्ञान की उपलब्धि की जा सकती है, पर केवल अनुभव ही ज्ञान का एकमात्र स्रोत नहीं हो सकता। कांट ने कहा कि अनुभव को ग्रहण करने की क्षमता भी होनी चाहिए, क्योंकि सभी अनुभवों की शर्त उनसे पहले की परिस्थितियों में निहित होती है। कांट की इस दलील से ज्ञान की उन वस्तुगत परिस्थितियों का आग्रह निकला जो किसी बाह्य जगत में न हो कर मानवीय इयत्ता की रचना-प्रक्रिया में ही स्थित होती हैं। अर्थात् वस्तुओं का ज्ञान उन बुद्धिसंगत परिस्थितियों से निर्धारित होता है जो हम उन पर आरोपित करते हैं।

हीगेल ने कांट द्वारा की गयी इंद्रियानुभववाद की आलोचना को आगे बढ़ाते हुए एक नयी दिशा दी। उन्होंने कहा कि विचार और यथार्थ एक समान तार्किक ढाँचे पर टिके होते हैं जिसका उद्घाटन ऐतिहासिक अनुभव के खुलने के साथ-साथ होता है। हीगेल की निगाह में यह प्रक्रिया द्वंद्वात्मक है। सचेत विचार जब इंद्रियों के ज़रिये भौतिक जगत के साथ संवाद करता है तो उसकी तार्किक परतें द्वंद्वात्मकता से ही खुलती हैं। खुलने की यह प्रक्रिया भौतिक जगत में ही सम्पन्न होती है अर्थात् भौतिक यथार्थ द्वंद्वात्मकता के तार्किक आग्रहों के अनुरूप साबित होता है। इस तरह हीगेल विचार और यथार्थ, दोनों को तर्क के नियमों के अधीन करके बुद्धि को आत्मनिष्ठ के बजाय वस्तुनिष्ठ ठहराते हैं।

कांट के बाद युरोपीय दर्शन बुद्धि के वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ रूपों के बीच फ़र्क करने की समस्या से जूझने लगा। फ्रैंकफ़र्ट स्कूल के चिंतकों एडोर्नो और होर्खाइमर ने

ज्ञानोदय की आलोचना की। उन्होंने कहा कि वैज्ञानिक मानस बनाने के दबाव में ज्ञानोदय ने विवेक या बुद्धि को पहले से मौजूद आत्मनिष्ठ अभिलाषाओं को महज़ औज़ार बना दिया है। नतीजे के तौर पर अभिलाषाएँ तो पूरी हो जाती हैं, पर एक नैतिक ख़ालीपन रह जाता है। सामाजिक प्रक्रिया की ताबेदारी में चले जाने के कारण बुद्धि या विवेक अपना आलोचनात्मक कर्तव्य नहीं पूरा कर पाते।

देखें : अस्तित्ववाद, आत्मनिष्ठता-वस्तुनिष्ठता, इयत्ता, इमैनुएल कांट, इंद्रियानुभववाद, ईसैया बर्लिन, उत्तर-आधुनिकतावाद, उत्तर-औपनिवेशिकता, उदारतावाद, कल्पित समुदाय, ग्योर्ग विल्हेल्म फ्रेड्रिख हीगेल, घटनाक्रियाशास्त्र और एडमण्ड हसर, चेतना, जॉन लॉक, ज़ाक लॉक, ज्यॉ-फ्रांस्वा ल्योतर, ज्यॉ-पॉल सार्त्र, ज़ाक देरिदा, जॉर्ज विल्हेल्म फ्रेड्रिख हीगेल, तत्त्वमीमांसा और अस्तित्वमीमांसा, तात्त्विकतावाद, थियोडोर लुडविग वीजेनग्रंड एडोर्नो, द्वैतवाद, नवउदारतावाद, परिणामवाद, फ्रांसिस बेकन, फ्रेड्रिख नीत्शे-1 और 2, भाववाद, भौतिकवाद, मनोविश्लेषण, मिशेल पॉल फ़ूको-1 और 2, यथार्थवाद, युरोपीय पुनर्जागरण, युरगन हैबरमास, युरोपीय ज्ञानोदय, रेने देकार्त, लुई अलथुसे, संत ऑगस्टीन, सोरेन आबी कीर्केगार्द, संरचनावाद और उत्तर-संरचनावाद, हरबर्ट स्पेंसर, ज्ञानमीमांसा, ज्ञान का समाजशास्त्र।

संदर्भ

1. मैक्स होर्खाइमर और टी.डब्ल्यू. एडोर्नो (1947/1972), *डायलैक्टिक ऑफ़ इनलाइटेनमेंट*, एलन लेन, लंदन.
2. इमैनुएल कांट (1781/1964), *क्रिटिक ऑफ़ प्योर रीजन*, अनु. नॉर्मन केम्प स्मिथ, मैकमिलन, लंदन.
3. जी.डब्ल्यू.एफ. हीगेल (1807/1977), *द फ़िनोमेनोलॉजी ऑफ़ स्पिरिट*, अनु. ए.वी. मिलर, क्लैरेंडन प्रेस, ऑक्सफ़र्ड.
4. रेने देकार्त (1641/1986), *मेडिटेशन ऑन फ़र्स्ट फ़िलॉसफ़ी*, अनु. जे. कटिंगघम, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, केम्ब्रिज.

— अभय कुमार दुबे

बेगानगी

(Alienation)

बेगानगी एक ऐसी सामाजिक और मनोवैज्ञानिक स्थिति है जिसमें व्यक्ति खुद को जीवन के अनुभवों तथा सामाजिक-राजनीतिक संस्थाओं से कटा हुआ या असंपृक्त महसूस करता है। दर्शनशास्त्र की शब्दावली में बेगानगी का प्रवेश बीसवीं सदी के उत्तरार्ध की घटना है। मार्क्सवादी चिंतन में केंद्रीय अवधारणा का दर्जा हासिल करने तथा सामाजिक विज्ञानों में एक महत्वपूर्ण प्रस्थापना बनने से पहले बेगानगी रोज़मर्रा के

जीवन की गतिविधियों, जैसे सम्पत्ति के हस्तांतरण, क्रय-विक्रय, या सामाजिक विमुखता आदि को इंगित करने के लिए इस्तेमाल की जाती थी।

मार्क्स ने बेगानेपन की अवधारणा को क्रांति के संदर्भ में विकसित किया था लेकिन इससे पहले वे हीगेल और फ़ायरबाख़ के दार्शनिक चिंतन में एक विशिष्ट अर्थ ग्रहण कर चुकी थी। हीगेल की किताब *फ़ेनोमेनोलॉजी ऑफ़ माइंड* में बेगानगी केंद्रीय अवधारणा के रूप में आती है। उनके परवर्ती चिंतन *इनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ द फ़िलॉसॉफ़िकल साइंसेज़* की अंतर्वस्तु भी बेगानेपन और उससे मुक्ति की दार्शनिक पड़ताल पर आधारित है। हीगेल इयत्ता से बेगानेपन के पद को विशुद्ध विचार या मन के अर्थ में प्रयोग करते हैं। उनके अनुसार इयत्ता एक ऐसा गतिशील विचार है जो बेगानगी और लगाव की चक्रीय प्रक्रिया में घटित होता है। वह खुद से अलग होकर प्रकृति के रूप में प्रकट होता है और फ़ाइनाइट माइंड, मनुष्य के रूप में पूर्णता हासिल करता है। हीगेल की चिंतन-योजना में बेगानगी और उससे मुक्ति परम सत्ता के वजूद की अभिव्यक्ति है। हीगेल का मानना है कि मनुष्य अपने मूल स्वभाव के कारण चीजों का निर्माण करता है और इस तरह खुद को वस्तुओं के रूप में अभिव्यक्त करता है। मनुष्य की सामाजिक संस्थाएँ और सांस्कृतिक कार्यकलाप या उपलब्धियाँ भी उसके इस स्वभाव का प्रकटीकरण हैं। हीगेल के मुताबिक मनुष्य की रचनाशीलता के ये विभिन्न रूप असल में उसकी बेगानगी का ही उदाहरण पेश करते हैं : वह जिन चीजों का निर्माण करता है अंत में वही उसके लिए अजनबी हो जाती हैं।

विद्वानों ने हीगेल के चिंतन में बेगानगी की विभिन्न अर्थ-छवियाँ ढूँढ़ने का प्रयास भी किया है। स्काच के मुताबिक हीगेल बेगानगी का दो बिल्कुल अलग अर्थों में प्रयोग करते हैं। एक वह जो व्यक्ति और समाज के बीच विषम संबंध को प्रकट करता है और दूसरा वह जो व्यक्ति की वास्तविक स्थिति और उसके मूल स्वभाव के अंतर को जाहिर करता है।

फ़ायरबाख़ हीगेल के इस दृष्टिकोण का खण्डन करते हैं कि प्रकृति परम सत्ता से बेगानेपन का परिणाम है और इस बेगानगी को पाटने या उससे मुक्त होने की प्रक्रिया में मनुष्य परम सत्ता का दर्जा हासिल कर लेता है। फ़ायरबाख़ मनुष्य को खुद से अलग हुई ईश्वरीय सत्ता का परिणाम नहीं मानते। इसके विपरीत वे यह प्रस्तावित करते हैं कि ईश्वरीय सत्ता मनुष्य के स्वयं से खण्डित हो जाने का नाम है। उनके अनुसार मनुष्य का बेगानगी तब शुरू होता है जब वह एक कल्पित सत्ता को गढ़ता है और उसे स्वयं से ऊँचा मान कर उसकी दासता स्वीकार कर लेता है। इस तरह फ़ायरबाख़ के

अनुसार मनुष्य की बेगानगी तभी खत्म हो सकती है जब वह ईश्वर के रूप में गढ़ी गयी अपनी छवि खारिज कर दे। बेगानगी की इस तत्ववादी और दार्शनिक व्याख्या को ठोस ऐतिहासिक संदर्भ देने का श्रेय मार्क्स को जाता है जिन्होंने इस अवधारणा की मनुष्य के सामाजिक-आर्थिक परिप्रेक्ष्य में रखकर पड़ताल की।

मार्क्स सर्जनात्मक सक्रियता की क्षमता को मनुष्य की ऐसी प्रवृत्ति मानते हैं जो उसे पशु-जगत से अलग करती है। मार्क्स के अनुसार अगर व्यक्ति को अपनी रचनात्मकता को अभिव्यक्त करने का मौक़ा नहीं मिलता तो वह पशुओं या मशीनों के समान हो जाता है। बेगानगी के कारणों की शिनाख़्त करते हुए मार्क्स उसकी व्यापक प्रक्रिया में जाकर तर्क देते हैं कि पूँजीवादी व्यवस्था में कामगार का अपने कार्य पर नियंत्रण खत्म हो जाता है और वह समूची व्यवस्था से बेगानगी महसूस करने लगता है। मार्क्स के अनुसार कामगार सबसे पहले अपने श्रम के उत्पादों से बेगानगी महसूस करता है, क्योंकि उसका निर्मित वस्तु या उसके उपयोग पर कोई नियंत्रण नहीं होता। उसका काम महज़ धन जुटा कर जीवन की भौतिक ज़रूरतें पूरी करने का साधन बन जाता है। दूसरे, कामगार कार्य की प्रक्रिया से भी कटा हुआ अनुभव करते हैं क्योंकि उनके काम करने की गति, ढर्रे, उपकरणों और तकनीक पर दूसरों का आधिपत्य होता है। तीसरे, अपने काम से सम्पृक्त महसूस न करने के कारण कामगार अंततः अपने आत्म से भी बेगानगी महसूस करने लगते हैं। इसके उलट अगर कामगार को अपने मन और रुचि से काम करने की स्वतंत्रता हो तो वह उत्साह से काम करता है और अपने काम से गहरा लगाव महसूस करता है। चौथे, बेगानगी पर आधारित श्रम एक एकांतिक प्रयास होता है क्योंकि वह समूह की ज़रूरतों को पूरा करने के लिए सामूहिक स्तर पर नियोजित उपक्रम का हिस्सा नहीं होता। इस सबका समेकित परिणाम यह होता है कि कामगार न केवल दूसरों से बल्कि अपने आप से भी कट जाता है। मार्क्स का मानना था कि बेगानगी के ये आयाम औद्योगिक पूँजीवाद के दौर में सबसे गम्भीर रूप धारण करते हैं। अंततः काम के साथ यह बेगानगी और उसके प्रति अरुचि कामगार को व्यवस्था में बदलाव करने के लिए प्रेरित करती है। इस तरह मार्क्स के दृष्टिकोण में बेगानगी की सामाजिक क्रांति में एक निर्णायक भूमिका होती है।

इस पूर्व-पीठिका के अनंतर बेगानगी से संबंधित शोध मार्क्स की सामाजिक-दार्शनिक धुरी और सम्भावित भविष्य से हटकर अर्थव्यवस्था के मौजूदा स्वरूप में काम की प्रकृति के कारणों और परिणामों पर केंद्रित होता गया है। हालाँकि मार्क्स के बुनियादी दृष्टिकोण के मुकाबले बेगानगी के अध्ययन से जुड़ी मौजूदा पद्धतियाँ उतनी बृहद नहीं हैं लेकिन

निष्कर्ष के स्तर पर वे मार्क्स के विचारों से काफी हद तक मेल खाती दिखती हैं। बेगानगी के समकालीन अध्ययन में मार्क्स की अवधारणा का स्थान काम से उपजी असंतुष्टि ने ले लिया है। अब बेगानगी के जिन रूपों और धारणाओं के इर्द-गिर्द शोध किया जाता है उनमें काम के प्रति प्रतिबद्धता, एफर्ट बारगेनिंग, और इनका विरोध करती प्रतिरोध की भावना को प्रमुख माना जा सकता है। अगर राजनीतिक दायरे की बात की जाए तो समाज की सत्ता संरचना के प्रति बेगानगी की भावना मतदान के प्रति लोगों के रुझान में आये बदलाव तथा राजनीति में बढ़ते अविश्वास के रूप में प्रकट हुई है।

बेगानगी के सामाजिक-दार्शनिक विमर्श से ले कर बेगानगी के समाज-विज्ञान में विश्लेषण का विषय बनने की इस यात्रा में नौकरी से मिलने वाली संतुष्टि और सामाजिक व राजनीतिक मसलों के प्रति उदासीनता आदि जैसे विषयों पर शोध की एक बड़ी राशि विकसित हो चुकी है। काम से जुड़ी चीजों को खुद तय करने और किसी की दखलंदाजी से मुक्त रहकर काम करने की आजादी को संतुष्टि की सबसे अहम कसौटी माना जाता है। काम की संतुष्टि के संबंध में कई अन्य कारकों को इस तरह भी देखा जाता है कि व्यक्ति को अपनी अंतर्निहित क्षमता को प्रकट करने का मौका मिलता है या नहीं, या कि कार्य-स्थल का माहौल कितना न्यायपूर्ण और कार्य-स्थल के अन्य सहयोगियों का व्यवहार कैसा है। इस क्रम में संस्था की विशालता, नौकरशाही और रोजमर्रा के कार्यों पर संस्था के उच्च पदस्थ अधिकारियों के हस्तक्षेप पर भी विचार किया जाता है। कई बार काम के अभाव से भी बेगानगी की भावना पैदा होती है। ऐसे में व्यक्ति को यह लगने लगता है कि समाज में उसकी कोई भूमिका नहीं है। शोधों से यह उजागर हुआ है कि बेरोजगारी की उच्च दर का अवसाद, बीमारी, और आत्महत्या के साथ सीधा संबंध है। गौरतलब है कि भूमण्डलीकरण के कारण रोजगार के अवसर ऐसे लोगों के पास चले गये हैं जिनके पास तकनीकी का बेहतर ज्ञान है या फिर जो कम वेतन पर काम करने को तैयार रहते हैं।

समकालीन विश्व में बेगानगी की भावना राजनीतिक सत्ता से मोहभंग के रूप में भी सामने आयी है। मोहभंग की यह भावना इसलिए भी पैदा होती है क्योंकि बड़े और जटिल समाजों में राजनीतिक संस्थाएँ लोगों की पहुँच से दूर होती जाती हैं तथा लोगों को या तो राजनीति में भागीदारी करने का मौका नहीं मिलता या फिर उन्हें ऐसे अवसर दिखायी ही नहीं देते। राजनीतिक प्रक्रिया के व्यक्ति केंद्रित होते जाने और उस पर कोरपोरेट पूंजी की चौधराहट क्रायम होने से लोगों में यह भावना घर कर गयी है कि राजनीतिक संस्थाएँ उनके हितों का प्रतिनिधित्व नहीं करती। राजनीतिक बेगानगी की प्रवृत्ति पश्चिमी देशों, खासकर अमेरिका में लगातार बढ़ती जा रही

है। साक्ष्यों के अनुसार वहाँ मतदान करने वाले लोगों के अनुपात में जबरदस्त गिरावट आयी है। मसलन, बीसवीं सदी के छठे दशक में तीन-चौथाई जनता को यह विश्वास था कि सरकार जनकल्याण के लिए काम करती है जबकि आज ऐसे लोगों की संख्या केवल एक चौथाई रह गयी है जो सरकार की सदाशयता में यक्रीन करते हैं।

गौरतलब है कि मौजूदा दौर में जिन लोगों के पास अच्छी ख़ासी नौकरी है और राजनीति में दखल करने के अवसर हैं, उन्हें भी लगता है कि काम की अधिकता ने उनके आत्म को छीन लिया है। वे खुद को हर समय वयस्त महसूस करते हैं। ज़्यादा काम और हर पल की व्यस्तता असंतोष के स्थाई कारण बन गये हैं। काम यह निरंतर दबाव लोगों में जीवन से बेगानगी को जन्म देता है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का एक विचित्र आयाम यह भी है कि बहुत से लोग परिवार और फुरसत के बजाय तमाम अरुचि के बावजूद काम में डूबे रहते हैं। कई अध्येता इसे आधुनिक समाज का एक विशिष्ट लक्षण मानते हैं जिसमें काम निजी जीवन के दायरे पर हावी होता जा रहा है। एक ऐसी स्थिति पैदा हुई है जिसमें बहुत से लोग परिवार और आराम के बजाय काम को वरीयता देने लगे हैं। क्या इसे इस बात का सुबूत माना जाए कि लोगों का काम से बेगानगी ख़त्म हो गयी है या फिर लोगों के जीवन में समुदाय और परिवार की भूमिका कम होती जा रही है। आधुनिक समाज में व्यक्ति के जीवन में आ रहे ऐसे बदलावों के मद्देनजर बेगानगी का पारम्परिक सिद्धांत अपूर्ण लगने लगता है।

काम से उपजी असंतुष्टि और राजनीतिक व्यवहार के क्षेत्र में बढ़ती बेगानगी कार्यस्थल और सामाजिक ढाँचे में पसरती उन प्रवृत्तियों की ओर इंगित करती है जो मनुष्य की प्रेरणा को मार देती हैं। साथ ही वह एक ऐसी वैकल्पिक व्यवस्था की ज़रूरत की भी माँग करती है जिसमें मनुष्य की सर्जनात्मकता को बहाल किया जा सके। सामाजिक दर्शन के तौर पर बेगानगी के सिद्धांत समाज के बेहतर विकल्पों की कल्पना को जीवंत बनाये रखने में मदद करते हैं। चिंतन की यह जद्दोजहद इसलिए भी ज़रूरी है ताकि सामाजिक विज्ञान वर्तमान की निरंकुशता और अतीत की अनुपलब्ध सम्भावनाओं के बीच परिवर्तनकारी भूमिका निभा सके।

देखें : अर्थव्यवस्था का समाजशास्त्र, अभिजन, अभिरुचि, आत्महत्या, उन्मूलनवाद, एजेंसी, कर्मकाण्ड, कानून, कारागार, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-1 से 4 तक, ग्योर्ग विल्हेल्म फ्रेड्रिख हीगेल, गोपनीयता, गृहविहीनता, जाति और जाति-व्यवस्था-1 से 4 तक, जादू, जीवन-शैली, टेलरवाद, डार्विनिज्म और चार्ल्स रॉबर्ट डार्विन, फुरसत, बचपन, बुजुर्गियत का समाजशास्त्र, भीड़, भ्रष्टाचार का समाजशास्त्र-1 और 2, विचलन, ज्ञान का समाजशास्त्र।

संदर्भ

1. टॉन बॉटमोर (1963), *कार्ल मार्क्स : अर्ली राइटिंग्ज*, मैकग्रा-हिल, न्यूयॉर्क.
2. एरिक फ्रॉम (1966), *मार्क्सिज्म कंसेप्ट ऑफ मैन*, एफ. उंगर, न्यूयॉर्क.
3. आर. हडसन (2001), *डिगनिटी एट वर्क*, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयॉर्क.

— नरेश गोस्वामी

बोलशेविक क्रांति

(Bolshevik Revolution)

फ्रांस की क्रांति के 125 साल बाद विश्व-राजनीति को जिस घटना ने सबसे ज्यादा प्रभावित किया, वह 1917 की बोलशेविक क्रांति थी जिसे रूस की अक्टूबर क्रांति के नाम से भी जाना जाता है। फ्रांसीसी क्रांति ने अगर कुलीन-तंत्र का खात्मा करके लोकतांत्रिक गणराज्यों के युग के लिए रास्ता साफ़ किया था, तो अक्टूबर क्रांति ने कहीं अधिक रैडिकल रुख अपनाते हुए न केवल राजशाही को परास्त किया, बल्कि पूँजीवाद द्वारा राज्य, अर्थव्यवस्था और समाज को अपने आईने में गढ़ने की परियोजना के मुकाबले समाजवादी राज्य और समाज का वैकल्पिक मॉडल पेश करने की कोशिश की। रूसी क्रांति से पहले मार्क्सवाद पश्चिम के विकसित देशों में सर्वहारा क्रांति की भविष्यवाणी करने वाली एक ऐसी युरोकेंद्रित विचारधारा थी जिसकी राजनीति ने कभी सफलता का मुँह नहीं देखा था। लेकिन रूसी क्रांति की कामयाबी के कारण मार्क्सवाद एशिया, अफ्रीका और लातीनी अमेरिका में भी अल्पविकसित देशों को समाजवाद और आधुनिकीकरण की दिशा में धकेलने वाले राजनीतिक परिवर्तनों का प्रेरक और वाहक बन गया। बोलशेविक क्रांति रूस के किसानों और मजदूरों द्वारा बीसवीं सदी के पहले बीस सालों में की गयी तीन क्रांतियों के सिलसिले के अंतिम कड़ी थी। पहली क्रांति 1905 में हुई जिसे लेनिन ने अक्टूबर क्रांति का ड्रेस रिहर्सल करार दिया था। दूसरी क्रांति 1917 की फ़रवरी में हुई जिसने ज़ारशाही को उखाड़ फेंका और दोहरी सत्ता की स्थापना की, जिसका नतीजा राजनीतिक अस्थिरता में निकला। उसके ठीक आठ महीने बाद लेनिन और बोलशेविकों के नेतृत्व में हुई क्रांति ने सोवियतों के लोकतंत्र पर आधारित दुनिया के पहले समाजवादी राज्य की स्थापना की। सत्ता का एक ग़ैर-पूँजीवादी ध्रुव तैयार हुआ जिसके पीछे 1922 में गठित सोवियत सोशलिस्ट रिपब्लिक जैसे बहुराष्ट्रीय राज्य की

ताक़त थी। बोलशेविक क्रांति के कारण वामपंथी राजनीति की भाषा भी बदल गयी। इससे पहले वामपंथी सारी दुनिया में सामाजिक जनवादी के रूप में पहचाने जाते थे, पर इसके बाद पूँजीवाद को क्रांतिकारी रवैये के तहत ख़ारिज करने वालों की पार्टियाँ कम्युनिस्ट कहलार्यीं और व्यवस्था में सुधारों के जरिये राजनीति करने वाली सोशलिस्ट पार्टियाँ कही जाने लगीं।

बोलशेविक क्रांति की पृष्ठभूमि, घटनाक्रम, कारणों और प्रभावों के ऊपर अनगिनत और प्रचुर अध्ययन हुए हैं। इनमें क्रांति के अहम नेताओं में से एक ट्रॉट्स्की जैसे सिद्धांतकारों और क्रांति से विचारधारात्मक हमदर्दी रखने वाले इतिहासकारों के प्रयास तो शामिल हैं ही, क्रांति के आलोचकों द्वारा रचा गया साहित्य भी शामिल है। ये आलोचक भी दो क्रिस्म के हैं। बोलशेविक क्रांति को सहानुभूति से देखने वाले रोज़ा लक्ज़ेम्बर्ग जैसे हमसफ़र मार्क्सवादियों की आलोचना भी है जो इसके भविष्य को लेकर चिंतित थे, और इस क्रांति को विश्व-इतिहास की एक नकारात्मक घटना के तौर पर देखने वाली रचनाएँ भी हैं।

रूस के बुद्धिजीवी वर्ग ने उन्नीसवीं सदी के आखिरी वर्षों में मार्क्सवाद से प्रेरणाएँ ग्रहण करनी शुरू कर दी थीं। अस्सी फ़ीसदी किसान आबादी वाले साम्राज्य में ज़ारशाही के तहत थोड़ा-बहुत औद्योगिक विकास भी हुआ था जिसके परिणामस्वरूप शहरी केंद्रों में पूँजीवादी वर्ग, सर्वहारा वर्ग और आधुनिक पेशों में संलग्न मध्यवर्ग उभर आया था। इसके बावजूद ज़ारशाही कुशासन, निरंकुशता, भूदास प्रथा और शोषण की निरंतरता से जनता को मुक्ति का आश्वासन कभी नहीं दे पायी। न तो नये सामाजिक वर्गों की महत्वाकांक्षाएँ पूरी होती लग रही थीं, और न ही किसानों की आर्थिक माँगें पूरी होने की कोई सम्भावना थी। तक्ररीबन हर वर्ग में राजनीतिक परिवर्तन की आकांक्षा थी। किसानों, मजदूरों और मध्यवर्गीय तबकों में गहरा असंतोष खदबदा रहा था। ज़ारशाही युरोप की प्रमुख राजनीतिक ताक़त थी, पर इन नाकामियों के कारण बीसवीं सदी का पहला दशक उसके सर्वाधिक पतनशील स्वरूप की नुमाइंदगी कर रहा था।

रूसी भाषा में बोलशेविक पार्टी का मतलब होता है बहुमत वाला दल। इसका गठन मार्क्सवादियों के संगठन रूसी सोशल डेमोक्रेटिक लेबर पार्टी (आरएसडीएलपी) की 1903 में हुई दूसरी कांग्रेस के बाद हुआ। कांग्रेस में इस बात पर एक राय थी कि ज़ार की हुकूमत ख़त्म करके समाजवाद की स्थापना के लिए रूस को मजदूर वर्ग के नेतृत्व में एक चरणबद्ध क्रांति की ज़रूरत है। आरएसडीएलपी पहले चरण में ज़ारशाही के तहत चल रही सामंती व्यवस्था को उखाड़ना चाहती थी ताकि दूसरे चरण के तहत पिछड़े हुए रूस में पूँजीवाद का विकास हो सके। तब कहीं जा कर तीसरे चरण



लेनिन पेत्रोग्राद में : अप्रैल थीसिस

में समाजवाद की नौबत आनी थी। लेकिन, यह चरणबद्ध क्रांति कर सकने वाली पार्टी के चरित्र के बारे में कांग्रेस दो भागों में बँटी हुई थी। जिन सदस्यों की मान्यता थी कि पार्टी को अपनी सदस्यता खोल देनी चाहिए और व्यापक जनता के संगठन के तौर पर अपना विकास करना चाहिए, उनकी जत्थेबंदी का नाम मेशेविक था। उनके विपरीत बोल्शेविकों का विचार था कि पार्टी को मार्क्सवाद में पारंगत ऐसे जुझारू और अनुशासित क्रांतिकारियों के संगठन के तौर पर अपना विकास करना चाहिए जो एक क्रांतिकारी कार्यक्रम को ज़रूरत पड़ने पर खुफ़िया राजनीति के ज़रिये लागू कर सकें। बोल्शेविकों के नेता लेनिन का कहना था कि रूस में राजनीतिक उत्पीड़न चरम पर है, ऐसे में खुली पार्टी सरकारी दमन का शिकार हो कर नष्ट हो जाएगी। लेनिन पार्टी को रूस की व्यापक जनता के संगठन की तरह न देख कर मज़दूर वर्ग के हरावल दस्ते की तरह देखते थे। उन्होंने ट्रेड यूनियन गतिविधियों से पैदा होने वाली राजनीतिक चेतना और एक क्रांतिकारी संगठन द्वारा प्रदत्त राजनीतिक चेतना में अंतर किया।

आरएसडीएलपी दो भागों में बँट गयी। लेकिन दो वर्ष बाद 1905 में जब ज़ारशाही के खिलाफ़ असंतोष रक्तंजित हड़तालों और प्रतिरोधों की शकल में फूट पड़ा, तो मेशेविकों और बोल्शेविकों ने मतभेद भुला कर पेरिस कम्यून के बाद हो रही पहली युरोपीय क्रांति में साथ-साथ भागीदारी की। क्रांतिकारी उथल-पुथल की प्रक्रिया दो वर्ष तक चली और 1907 में इसका दमन कर दिया गया। लेकिन इसके परिणामस्वरूप रूसी किसानों, मज़दूरों और उनका साथ देने वाले बागी सिपाहियों ने क्रांतिकारी राजनीति का स्वाद चखा और अपने लिए ज़ारशाही से कई राजनीतिक रियायतें जीतीं। सत्ता ज़ार के पास ज़रूर थी, पर शासन चलाने की ज़िम्मेदारी हाल ही गठित ड्यूमा (संसद) के हाथों में आ गयी थी।

दूसरी तरफ़ रूस में सोवियतों (क्रांतिकारी परिषदों) का प्रसार हो गया था जो लोकतांत्रिक सत्ता का रैडिकल प्रतिनिधित्व कर रही थीं। 1905 की क्रांति का नेतृत्व भी सेंट पीटर्सबर्ग की सोवियत के हाथ में था।

क्रांति विफल होने के बाद आरएसडीएलपी में क्रांतिकारी कार्यक्रम पर विवाद शुरू हुआ। मेशेविकों के नेता और वरिष्ठ मार्क्सवादी सिद्धांतकार प्लेखानोव ने परम्परानिष्ठ रवैया अपनाते हुए उस अनुभव को नज़रअंदाज़ करना जारी रखा जिसके तहत मज़दूरों के साथ-साथ किसान 1905 में क्रांति का नेतृत्व करते हुए दिखे थे। प्लेखानोव और मेशेविक किसानों को क्रांतिकारी शक्ति मानने के लिए तैयार नहीं थे। लेकिन बोल्शेविकों और लेनिन ने कहा कि क्रांति का नेतृत्व मज़दूर ही करेंगे, पर किसानों के साथ उन्हें गठजोड़ बनाना होगा। विवाद विफल क्रांति के मूल्यांकन पर भी था। बोल्शेविकों का कहना था कि इस क्रांति के आईने में रूस के औद्योगिक पूँजीवादी वर्ग की बढ़ती हुई ताकत देखी जानी चाहिए। लेनिन का विचार था कि रूस में पूँजीवाद का इस हद तक विकास हो गया है कि सर्वहारा वर्ग क्रांति का नेतृत्व करके अपनी हुकूमत क़ायम कर सके और समाजवाद की रचना का कार्यक्रम चला सके। जबकि मेशेविकों का कहना था कि ड्यूमा के बावजूद निरंकुशता जारी है, इसलिए पार्टी को पूँजीवादी वर्ग के नेतृत्व में लोकतांत्रिक सरकार की स्थापना के लिए संघर्ष करना चाहिए।

सदी का दूसरा दशक प्रथम विश्व-युद्ध का दशक भी था। ज़ार ने युद्ध में भागीदारी करना तय किया, और देशभक्ति के ज्वार के मुक़ाबले क्रांति की आग ठंडी होती लग रही थी। कई क्रांतिकारी नेता निष्कासित कर दिये गये थे। रूस के युद्ध में भाग लेने का अकेला विरोध बोल्शेविक कर रहे थे। मेशेविक नेता प्लेखानोव और अराजकतावादी प्रिंस क्रोपाटकिन युद्ध के पक्ष में थे। बोल्शेविकों का तर्क था कि साम्राज्यवादियों के हितों के लिए मज़दूरों-किसानों के बेटों को क्यों अपनी जान देनी चाहिए। इस विरोध के परिणामस्वरूप बोल्शेविकों को ज़बरदस्त पुलिस दमन का सामना करना पड़ा। ड्यूमा के पाँच बोल्शेविक सदस्यों को गिरफ़्तार करके साइबेरिया भेज दिया गया। लेनिन को स्विट्ज़रलैण्ड पलायन कर जाना पड़ा। रूस में केवल बोल्शेविकों का एक कोर ग्रुप ही रह गया।

लेकिन ज़ारशाही बहुत दिनों तक राहत नहीं महसूस कर पायी। कुशासन, नौकरशाहों की गड़बड़ियाँ, भ्रष्टाचार और फ़ौज की अक्षमता अपने चरम पर थी। ज़ार और ज़ारीना रासपुतिन जैसी संदिग्ध शख्सियत के कहने पर चलते थे। फ़रवरी, 1917 तक हालत यह हो चुकी थी कि पूरे रूस में एक भी राजनीतिक गुट ऐसा नहीं रह गया था जो ज़ार के

साथ हमदर्दी रखता हो। फ़रवरी में मज़दूरों और सिपाहियों ने, जो ज़्यादातर किसान परिवारों से आये थे, विद्रोह कर दिया। इनका नेतृत्व सोवियतों के हाथ में था। राष्ट्रीय पैमाने पर क्रांति की अगुआई पेत्रोग्राद की सोवियत कर रही थी। ज़ारशाही को ख़त्म करके सोवियतों ने अस्थाई सरकार बनने दी और उसे कुछ शर्तों पर समर्थन दिया : लोकतांत्रिक गणराज्य स्थापित करने के लिए एक संविधान सभा बुलायी जाए, भूमि सुधार करके ज़मीनों किसानों में बाँटी जाएँ, बदले में मुआवज़ा भी न दिया जाए और मज़दूरों के लिए आठ घंटे का कार्य-दिवस हो। एक तरह सत्ता की यह नयी संरचना दोहरे क्रिस्म की थी जिसका परिणाम राजनीतिक अस्थिरता में निकलना था।

फ़रवरी क्रांति के पहले महीने तक आरएसडीएलपी में बोल्शेविक अल्पमत में थे, और मेशेविक और एसआर (सोशलिस्ट रेवोल्यूशनरी) नामक गुट बहुमत में था। लेकिन सोवियतों के भीतर बोल्शेविकों का दबदबा था, और मज़दूरों के बीच उनकी प्रतिष्ठा का मुकाबला कोई नहीं कर सकता था। 4 अप्रैल, 1917 को लेनिन अपने 32 साथियों के साथ स्विट्ज़रलैण्ड से पेत्रोग्राद पहुँचे और एक नया बोल्शेविक कार्यक्रम पेश किया जिसे अप्रैल थीसिस के नाम से जाना जाता है। लेनिन का विचार था कि राजनीतिक हालात अस्थिर हैं। इससे पहले अस्थायी सरकार के उदारतावादी शासक अपने क्रमदम जमा पायें, हालात का लाभ उठा कर बोल्शेविकों को अस्थाई सरकार से सत्ता छीन लेनी चाहिए। पहली प्रतिक्रिया में तक्ररीबन पूरी पार्टी ने लेनिन का विरोध किया, लेकिन हफ़्ते भर के भीतर-भीतर लेनिन इस क्रांतिकारी कार्यक्रम के आधार पर पार्टी के बहुमत का समर्थन जीतने में सफल रहे। इस दौरान मेशेविक कैडेट पार्टी के नेतृत्व में चलने वाली अस्थाई सरकार में ऊँचे पदों पर जमे रहे। यह सोशलिस्टों और कैडेट पार्टी के बीच गठबंधन सरीखी स्थिति थी। बोल्शेविकों ने इस पर आपत्ति की, लेकिन जब पेत्रोग्राद की सोवियत ने इस बंदोबस्त का साथ दिया तो बोल्शेविकों ने अपने केवल एक प्रतिनिधि कामेनेव को ही सरकार में भागीदारी की इजाज़त दी।

सितम्बर आते-आते बोल्शेविक पूरी तरह से क्रांति के लिए कमर कस चुके थे। उन्होंने शांति, ज़मीन और रोटी का नारा दे कर सभी की तरह की सत्ता सोवियतों द्वारा हस्तगत करने का आह्वान किया। 24-25 अक्टूबर को बोल्शेविक पार्टी ने मज़दूरों और किसानों का नेतृत्व करते हुए अस्थाई सरकार को उखाड़ फेंका और सोवियतों की सरकार क़ायम की। अगले दिन सोवियतों की दूसरी कांग्रेस बुलायी गयी जिसमें किसानों को ज़मीन बाँटने और सभी मोर्चों पर शांति क़ायम करने की राजाज़ा जारी की गयी। फ़रवरी, 1918 तक ज़ार के विशाल रूसी साम्राज्य में हर मुक़ाम पर सोवियत

सरकार ने मज़बूती से क्रमदम जमा लिए। दूसरी तरफ़ मेशेविकों ने एसआर गुट और दक्षिणपंथी ताक़तों के साथ मिल कर इस क्रांति का जम कर विरोध किया। सोवियत सरकार के समर्थन में केवल बोल्शेविक पार्टी और कुछ निर्दलीय ही रह गये। क्रांति सफल ज़रूर हुई, लेकिन नयी सरकार को अगले चार सालों में भीषण गृह युद्ध और विदेशी हस्तक्षेप का सामना करना पड़ा। इसका परिणाम 'युद्ध कम्युनिज़म' की परिस्थितियों में निकला जिसने पहले लेनिन और फिर बाद में स्तालिन के नेतृत्व में बोल्शेविकवाद को भीतर और बाहर से बदल डाला।

देखें : अर्नेस्टो चे गुएवारा, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, आंगिक और पारम्परिक बुद्धिजीवी, एंतोनियो ग्राम्शी, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-1 से 4 तक, क्रांति, क्रांति : मार्क्सवादी विमर्श, ग्योर्गी लूकाच, नयी सदी में मार्क्सवादी विमर्श-1 से 9 तक, निष्क्रिय क्रांति, पेटी बूज्वा, फ्रेड्रिख एंगेल्स, फ्रैंकफ़र्ट स्कूल, भारत में किसान संघर्ष-2 और 4, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), भारतीय इतिहास लेखन, भाषा के मार्क्सवादी सिद्धांत, भ्रांत चेतना, फ्रांस्वा-चाल्स मारी फ़ूरिये, क्यूबा की क्रांति, फ्रेंज़ फ़ानो, हिंसा-1 और 2, मानवेंद्र नाथ राय, माओ त्से-तुंग, माओवाद और माओ विचार, मार्क्सवाद-1 से 5 तक, मार्क्सवादी इतिहास-लेखन, मार्क्सवादी समाजशास्त्र, मार्क्सवाद और पारिस्थितिकी, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, मिखाइल मिखाइलोविच बाख़िन, समाजवादी वसंत-1 से 4 तक, रॉबर्ट ओवेन, राज्य की मार्क्सवादी अवधारणा, लेनिनवाद, लियोन ट्रॉट्स्की, लिबरेशन थियोलॉजी, सर्वहारा, सांस्कृतिक क्रांति, सैं-सिमों, स्तालिन और स्तालिनवाद, सोवियत समाजवाद-1 से 3 तक, सोवियत सिनेमा, वर्चस्व, व्लादिमिर इलीच लेनिन।

संदर्भ

1. ई.एच. कार (2004), *द रशियन रेवोल्यूशन : फ़ॉर्म लेनिन टु स्तालिन (1917-1929)*, पालग्रेव, न्यूयॉर्क.
2. जी. गिल (1979), *पीजेंट्स एंड गवर्नमेंट इन द रशियन रेवोल्यूशन*, मैकमिलन, लंदन.
3. लियोन (1967), *द हिस्ट्री ऑफ़ रशियन रेवोल्यूशन*, तीन खण्ड, स्फ़ेयर बुक्स, लंदन.
4. एच. शुक्रमैन (सम्पा.) (1994), *द ब्लैकवेल इनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ रशियन रेवोल्यूशन*, ब्लैकवेल, ऑक्सफ़र्ड.
5. जॉन रीड (1960), *टेन डेज़ दैट शुक्र द वर्ल्ड*, विंटेज, न्यूयॉर्क.
6. एल. कोचैन (1978), *रशिया इन रेवोल्यूशन, 1890-1918*, ग्रेनाडा, लंदन.
7. डब्ल्यू.एच. चैम्बरलिन (1965), *द रशियन रेवोल्यूशन*, दो खण्ड, ग्रीसेट एंड डनलप, न्यूयॉर्क.

— अभय कुमार दुबे

बौद्ध दर्शन

(Buddhist Philosophy)

भारतीय परिदृश्य में बौद्ध दर्शन और धर्म का विकास सामाजिक-सांस्कृतिक-वैदिक हिंसा, पुरोहितवाद, ब्राह्मणवाद, वर्णाश्रम-व्यवस्था तथा कर्मकाण्डों के विरुद्ध हुआ है। इस दर्शन ने जीवन से विलग किसी दूसरे जगत में नहीं बल्कि इस यथार्थ जीवन-जगत में ही मनुष्य के दुःख से छुटकारा पाने के लिए मार्ग प्रशस्त किया। इसके लिए बुद्ध ने जीवन को ही दुःख का कारण माना। उन्होंने चार आर्य सत्य बताये : दुःख है, दुःख का कारण है, दुःख का अंत है और दुःख के अंत के लिए उपाय भी हैं। दुःख के निवारण के रूप में उन्होंने अष्टांगिक मार्ग की प्रस्थापना दी और कहा कि संसार की कोई भी वस्तु नित्य न होकर सतत परिवर्तनशील है। बौद्ध दर्शन के अनुसार जन्म लेना दुःख है, शरीर का क्षय होना दुःख है, बीमारी दुःख है, किसी प्रिय वस्तु से नाता जोड़ना दुःख है, किसी प्रिय वस्तु से नाता तोड़ना दुःख है, किसी अपेक्षित वस्तु का प्राप्त न होना भी दुःख है। इन पाँच स्कंधों में से किसी एक को भी पकड़ने का लोभ दुःख है। यह लोभ और लालसा ही है जो पुनर्जन्म का कारण है, जिसके साथ सुख और लालच की भावना लगी रहती है, कभी यहाँ तो कभी वहाँ सुख खोजने अर्थात् सुख खोजते-खोजते नष्ट हो जाने की भावना, लगी रहती है। इस लोभ को पूर्णतः रोक देना, उससे अपने आपको खींच लेना, अपने दुःखों का अंत कर सकता है। कामनाएँ ही सभी दुःखों का कारण हैं। इनसे मुक्ति के लिए अष्टांगिक मार्ग-सम्यक दृष्टि, सम्यक संकल्प, सम्यक वाक्, सम्यक कर्मांत, सम्यक आजीव, सम्यक व्यायाम, सम्यक स्मृति और सम्यक समाधि के आठ साधन हैं जिनके द्वारा जीव अविद्या और तृष्णा से मुक्त हो सकता है। इनके द्वारा निर्मल बुद्धि, दृढ़ता तथा शांति मिलती है। इस प्रकार दुःख का पूर्ण विनाश होता है और पुनर्जन्म की सम्भावना नहीं रह जाती है। इसी अवस्था को बुद्ध ने निर्वाण की संज्ञा दी है।

बुद्ध के विचारों का प्रादुर्भाव ऐसे दौर में हुआ जब ब्राह्मणवाद और वर्णाश्रम व्यवस्था का रूढ़िवादी स्वरूप सामाजिक जीवन छिन्न-भिन्न कर रहा था। वर्णाश्रम को वेदों से उत्पन्न दैवी विधान मान कर दैवी साक्ष्य के रूप में मान्यता मिली हुई थी। बुद्ध ने वेदों की पवित्रता-प्रामाणिकता एवं वैदिक देवी-देवताओं को मानने से इनकार कर दिया। उन्होंने अपने अनुयायियों से कहा कि जिस प्रकार से सोने की शुद्धता गला कर परखी जाती है उसी तरह से किसी चीज की सत्यता परखने के बाद ही उसे स्वीकार करना चाहिए। बुद्ध किसी व्यक्ति के प्रामाण्य पर उसका मत मानने का उपदेश नहीं देते।

वे तो यहाँ तक कहते हैं कि मेरे भी वचनों को इसलिए न मान लो कि वे मेरे द्वारा प्रतिपादित और उद्घाटित हैं। किसी सत्य को युक्तियुक्त तार्किक कसौटी पर कस कर ही देखा जाना चाहिए। युक्तियुक्तता, तार्किकता और सिद्धांतों की सत्यता ही मूल्यवान है। सत्यान्वेषण के लिए तर्क ही एकमात्र कसौटी है। उन्होंने कहा कि भिक्षुओ आत्म-दीप, आत्म-शरण अर्थात् स्वावलम्बी होकर विहार करो। किसी दूसरे के भरोसे मत रहो। धर्म-दीप और धर्म-शरण होकर विहार करो। दूसरे किसी के भरोसे मत रहो। स्वावलम्बी बनाने की बुद्ध की यह शिक्षा ही विश्वजयी होने की घोषणा है।

वैदिक पुरुष सूक्त के अनुसार ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से पैदा हुए, क्षत्रिय बाहुओं से, वैश्य जंघाओं से और शूद्र पैरों से। इसलिए ब्राह्मणों को समाज में सर्वोच्च स्थान प्राप्त हुआ। इसके जवाब में बौद्ध दार्शनिक दिंगानाग ने कहा कि ब्राह्मणों की पत्नियों को भी मासिक धर्म के चक्र से गुजरना पड़ता है, वे भी गर्भवती होती हैं, वे भी बच्चों को जन्म देती हैं, उन्हें दूध पिलाती हैं और उनका लालन-पालन करती हैं। लेकिन स्त्रियों से पैदा हुए ब्राह्मण दावा करते हैं कि वे ब्रह्मा के मुख से पैदा हुए हैं, ब्रह्मा की सृष्टि हैं और उनके उत्तराधिकारी हैं। यह सरासर झूठ है। धम्मपद में कहा गया है कि मैं निस्सदेह उसे ब्राह्मण कहता हूँ जिसका ज्ञान गम्भीर होता है, जो बुद्धिमान होता है और जिसमें अच्छे और बुरे मार्ग का विवेक होता है तथा जो उच्चतम लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है।

बुद्ध ने कार्य-कारण शृंखला द्वारा निर्वाण के रूप को समझाने की कोशिश की। अविद्या से शुरु होने वाली यह शृंखला प्रतीत्यसमुत्पाद के नाम से विख्यात है। प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ है— इस के होने पर यह होता है। बुद्ध के अनुसार संसार में सभी वस्तुओं की उत्पत्ति कारण के अभाव में सम्भव नहीं है। कारण ही कार्य को जन्म देता है तथा कार्य में रूपांतरित होता है। इसी सिद्धांत का दूसरा भाग परिवर्तनशीलता के आयाम पर जोर देता है। अर्थात् संसार में हर पल सभी वस्तुओं का आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है। उत्पत्ति और विनष्टि का प्रवाह निरंतर चलता रहता है। इस सिद्धांत के अंतर्गत इस शृंखला की ग्यारह कड़ियाँ हैं : अविद्या के होने से संस्कार होता है, संस्कार (कर्म) के होने से उसके विपाक स्वरूप मृत्यु के अनंतर चित्त की संतति जन्मांतर में चली आती है, विज्ञान के होने से जन्मांतर में नामरूप होते हैं। नामरूप का अर्थ है मानसिक या भौतिक स्थिति, नामरूप के होने पर चक्षु, घ्राण, जिह्वा, काया और मन ये छह आयतन उठ खड़े होते हैं, इन छह आयतनों के कारण विषयों के साथ सम्पर्क होता है जो स्पर्श कहलाता है, स्पर्श होने से सुख, दुःख आदि वेदनाएँ होती हैं। वेदना के होने से तृष्णा होने से विषयों को ग्रहण करने की प्रवृत्ति होती है जो उपादान कहलाती है, उपादान होने से जीवन में भाग-दौड़

होती है, जिसे भव कहते हैं, भव होने से जन्मांतर में उसके व्यक्तित्व की संतति चालू रहने से जरा-मरण जारी रहता है।

बौद्ध दर्शन में निर्वाण को समझने लिए प्रायः एक दृष्टांत का सहारा लिया जाता है। किसी दीपक को बुझा देने पर दीपक नष्ट नहीं होता। वह वहीं बना रहता है। उसकी लौ नष्ट हो जाती है और इसी को हम बुझना कहते हैं। निर्वाण में भी यही होता है। तृष्णा का क्षय होना ही निर्वाण है। पूछा जाता है कि निर्वाण अपने-आपको मिटा देता है क्या? यह प्रश्न मैं के अज्ञान पर आश्रित है। यथार्थ में कोई एक मैं तो है ही नहीं, जिसका उच्छेद किया जा सके। निर्वाण उच्छेद नहीं है, बल्कि तृष्णा का अशेष विरोध कर देना ही निर्वाण है। जो मैं पर आग्रह रखते हैं उनके लिए निर्वाण अपने को मिटा देना ही है। बुद्ध का कहना था कि अष्टांगिक मार्ग पर चलने पर प्रज्ञा का उदय होता है तथा निर्वाण की प्राप्ति होती है। पाप-कर्मों को न करना, पुण्य-कर्मों का संचय तथा चित्त की परिशुद्धि बौद्धधर्मियों के लिए ये तीन महत्त्वपूर्ण उपदेशात्मक तत्त्व हैं। इन पर अमल करने का प्रयास किया जाना चाहिए।

बुद्ध के निर्वाण के लगभग सौ साल बाद वैशाली में द्वितीय बौद्ध संगीति सम्पन्न हुई और थेर भिक्षुओं ने उनसे मतभेद रखने वाले कुछ भिक्षुओं को पाप-भिक्षु कहकर संघ से निकाल दिया। निकाले गये भिक्षुओं ने तुरंत वहीं अपना एक अलग संघ बनाकर अपने को महासंघिक तथा थेरवादियों को हीनसंघिक कहा। बाद में ये ही क्रमशः महायान और हीनयान के रूप में जाने गये। सम्राट अशोक द्वारा लगभग 249 ईसापूर्व में पाटलिपुत्र में आहूत तृतीय बौद्ध संगीति में पालि तिपिटक (त्रिपिटक) का संकलन हुआ, जिसका प्रचार सम्राट के पुत्र (या भाई) महेंद्र ने श्रीलंका में जाकर किया। पहली शती ईसापूर्व त्रिपिटक पालि में सर्वप्रथम श्रीलंका में ही लिपिबद्ध हुआ। तीसरी संगीति के बाद भारत में थेरवाद का प्रभाव क्रमशः जाता रहा तथा सर्वास्तित्वाद् या वैभाविक सम्प्रदाय ने उसका स्थान ले लिया। आगे चल कर इससे अलग होकर एक नया सम्प्रदाय सैद्धांतिक नाम से अस्तित्व में आया। अश्वघोष के ग्रंथों और वैपुल्य सूत्रों के रूप में महायान नागार्जुन के माध्यमिक और असंग के योगाचार सम्प्रदाय के रूप में आया।

हीनयान अनीश्वरवादी और कर्मप्रधान दर्शन है। इसमें व्यक्तिगत साधना द्वारा व्यक्ति का निर्वाण प्राप्त करना ही जीवन का लक्ष्य है। इसका अर्थ अर्हंत है जो अपने प्रयत्नों से अपने लिए निर्वाण प्राप्त करता है। इसके विपरीत महायान में सर्वमुक्ति का कामना है। इसका आदर्श बोधिसत्व है जो अन्य आर्य पुरुषों के निर्वाण के लिए प्रयत्नशील रहता है। बोधिसत्व बोधिचित्त के उत्पाद तथा प्रज्ञा आदि पारमिताओं के अनुशीलन द्वारा करुणावश लोक-कल्याण के लिए उद्यत

रहता है। महायान एक विशाल यान है जिसमें बैठकर कई लोग संसार-सागर को पार कर सकते हैं।

हीनयान के अनुसार बुद्ध एक महापुरुष थे जिन्होंने अपने प्रयत्न से निर्वाण प्राप्त किया और निर्वाण प्राप्ति के मार्ग उपदेश दिया। महायान में बुद्ध को लोकोत्तर तथा ईश्वर स्थानापन्न बताया गया। बुद्ध के अवतारों की कल्पना की गयी। निकाय (धर्मकाय, निर्माणकाय और संभोगकाय) सिद्धांत अस्तित्व में आया। बुद्ध-भक्ति प्रचलन में आयी। लोककल्याण की भावना और महाकरुणा का विकास हुआ। कहा गया कि लोक के सारे कलि-कलुषों को 'मैं' अपने ऊपर लेता हूँ, इसलिए कि लोक 'मुक्त' हो सके।

वैभाषिक सम्प्रदाय के अनुसार बाह्य विषयों का प्रत्यक्ष ज्ञान किया जा सकता है। इसके अनुसार अनुमान के लिए व्यापित का निश्चय होना आवश्यक है, और यह निश्चय तभी होता है, जब हम दो पदार्थों को एक साथ देखते हैं। धूम और अग्नि को एक साथ देखे बिना अग्नि का अनुमान नहीं हो सकता है। अतः बाह्य वस्तुओं का अनुमान करने के लिए उनका कहीं न कहीं प्रत्यक्ष होना आवश्यक है।

माध्यमिक या शून्यवाद मानता है कि यह जगत शून्य है। बाह्य और अंतर सभी विषय असत् हैं इसलिए इसे शून्यवाद कहा जाता है। विज्ञानवाद या योगाचार दर्शन के अंतर्गत बोधि प्राप्ति के लिए योग-साधना बल दिया जाता है। विज्ञानवाद को सुव्यवस्थित सम्प्रदाय के रूप में प्रतिष्ठित एवं विकसित करने का श्रेय आर्य मैनोमनाथ, आर्य असङ्ग, वसुबंधु एवं आचार्य स्थिरमति को है। सौतांत्रिक मत के अनुसार बाह्य और अभ्यंतर दोनों सत्य हैं। जो वस्तु बाह्य रूप में दिखाई देती है वह चित्र मात्र और एक प्रतीति भर है। चित्र एक विचार है और चित्र का विचार चित्र के बिना नहीं हो सकता। यदि अभ्यंतर कोई वस्तु नहीं है तो विचार भी नहीं हो सकता। अतः चित्र को अस्वीकार करने से वदतोव्याघात हो जाता है। इस तरह से बौद्ध दर्शन के विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों ने अपनी तरह व्याख्याएँ की हैं।

बुद्ध ने अपने सिद्धांतों को किसी दार्शनिक प्रणाली के रूप में विकसित नहीं किया। बुद्ध की मृत्यु के बाद उनके शिष्यों ने स्मृति के आधार पर उनकी शिक्षाओं और विचारों को संकलित व सम्पादित किया। जिससे कई असंगतियाँ पैदा हो गयीं और अनुयायियों में मतभेद पैदा होने लगे जो विभिन्न सम्प्रदायों के अस्तित्व में आने के कारण बने। इसका एक परिणाम यह भी हुआ कि वैदिक कर्मकाण्डों और अंधविश्वासों के विरोध स्वरूप पैदा हुआ यह दर्शन स्वयं इन सबका शिकार हो गया। बौद्ध मठों में एकत्रित अकूत सम्पत्तियाँ विवाद का कारण बनने लगीं और मठ भ्रष्टाचार के केंद्र बन गये। इन विसंगतियों के जमा होते जाने के कारण कालांतर में इस महान धर्म का प्रभाव सीमित होता चला गया।

देखें : आर्यभट्ट और *आर्यभटीय*, उपनिषद्, कपिल, *अर्थशास्त्र* और कौटिल्य, गोपीनाथ कविराज, गोविंद चंद्र पाण्डे, चैतन्य महाप्रभु, जैन दर्शन, न्याय दर्शन, दया कृष्ण, नंद किशोर देवराज, न्याय दर्शन, नागार्जुन, पतंजलि और *योगसूत्र*, पाणिनि और *अष्टाध्यायी*, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, पुराण, पूर्व-मीमांसा दर्शन, बदरी नाथ शुक्ल, बादरायण, *भगवद्गीता*, भरत और *नाट्यशास्त्र*, मुकुंद लाठ, *भागवत पुराण*, *महाभारत*, यशदेव शल्य, योग दर्शन, रामानुजाचार्य, लोकायत, वात्स्यायन और *कामसूत्र*, वेदांत दर्शन, वैशेषिक दर्शन, शंकराचार्य, षड्-दर्शन-1 और 2, संस्कृत काव्यशास्त्र, स्मृति-साहित्य, सांख्य दर्शन-1 और 2, सिद्ध-नाथ परम्परा।

संदर्भ

1. बलदेव उपाध्याय (1999), *भारतीय दर्शन की रूपरेखा*, चौखम्भा पब्लिशर्स, वाराणसी.
2. चंद्रधर शर्मा (1991), *भारतीय दर्शन : आलोचन और अनुशीलन*, मोतीलाल बनारसी दास, नयी दिल्ली.
4. के. दामोदरन (2001), *भारतीय चिंतन परम्परा*, अनु. जी. श्रीधरन, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली.

— अजय कुमार पाण्डेय

बौद्धिक सम्पदा अधिकार

(Intellectual Property Rights)

मोटे तौर पर बौद्धिक सम्पदा अधिकार निजी तौर पर सम्पदा रखने के अधिकारों के समान ही हैं। लेकिन, दोनों के बीच कुछ अंतर भी हैं। पहला फ़र्क तो यह है कि निजी सम्पदा का इस्तेमाल सीमित और निश्चित मात्रा में ही हो सकता है, पर बौद्धिकता या ज्ञान का असीमित मात्रा में अनगिनत जगहों पर प्रयोग किया जा सकता है। स्वामित्व के लिहाज़ से भी दोनों सम्पदाओं में फ़र्क है। एक मकान के दो मालिक नहीं हो सकते, पर दवा का एक फ़ार्मूला कई लोग एक-दूसरे को बाधित किये बिना प्रयोग कर सकते हैं। बौद्धिक सम्पदा अधिकार की बुनियादी विशेषता है ऐसी सम्पत्ति की रक्षा करना जिसे हड़पने और फिर से उत्पादित करने के लिए उस सम्पत्ति के जन्मदाता को उससे वंचित करने की ज़रूरत नहीं होती। इस अधिकार के पीछे नैतिक तर्क यह है कि इसके ज़रिये आविष्कार करने वाले को अपने प्रयासों का फल मिलता है। इसके माध्यम से एक विशेष संसाधन का मूल्य निर्धारण होता है। बौद्धिक सम्पदा के ज़रिये उत्पादन की एक अधिक सक्षम पद्धति सामने आती है जिससे पैदा होने वाली सम्पत्ति की लागत आविष्कार की लागत से कहीं कम होती है। बौद्धिक सम्पदा का हस्तांतरण उसे ऐसे लोगों के हाथों में पहुँचा देता है जो उसका महत्व सम्भवतः

उसके आविष्कारक से भी ज़्यादा समझ सकते हैं। यानी बौद्धिक सम्पदा अधिकार उस सम्पदा के कुछ भागों को बाज़ार के दायरे में पहुँचाने का रास्ता खोलते हैं। ज्ञान आधारित उद्योगों, उदारीकरण और निजीकरण के ज़माने में ये अधिकार बहुत महत्वपूर्ण हो गये हैं। वैसे तो इन अधिकारों का दायरा भू-क्षेत्रीय है, पर संबंधित राष्ट्रीय क़ानूनी ढाँचों पर डब्ल्यूटीओ और डब्ल्यूआईपीओ (वर्ल्ड इंटेलेक्चुअल प्रॉपर्टी ऑर्गनाइज़ेशन) के प्रभाव में इनका भूमण्डलीकरण होता जा रहा है। ये अधिकार अमीर और ग़रीब देशों के बीच ख़ासी बहस और टकराव का स्रोत बने हुए हैं।

निजी सम्पत्ति के अधिकार संविधानसम्मत हैं और अपने आप में अनुलंघनीय नहीं होते। राज्य उन्हें रद्द कर सकता है, सीमित कर सकता है। राज्य मुआवज़ा दे कर व्यक्ति की सम्पत्ति अधिग्रहीत कर सकता है। बौद्धिक सम्पदा के मामले में सरकार आम तौर पर लाइसेंस जारी करने के अधिकार का प्रयोग करके उसे सीमित कर सकती है। इस लिहाज़ से ये अधिकार भी अनुलंघनीय नहीं हैं। चूँकि बौद्धिक सम्पदा रखने के अधिकार को राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर मान्यता दी गयी है, और उसका ज़िक्र मानवाधिकार संधियों में भी है, इसलिए उस पर मानवाधिकारों के संदर्भ में भी विचार किया जाता है। बौद्धिक सम्पदा अधिकारों से संबंधित एक बहस मूर्त और अमूर्त सम्पत्तियों पर नियंत्रण को ले कर भी है।

बौद्धिक सम्पदा संरक्षण का इतिहास उन्नीसवीं सदी में हुई कई अहम अंतर्राष्ट्रीय संधियों से शुरू होता है। बीसवीं सदी में नब्बे के दशक तक यह प्रक्रिया धीरे-धीरे चलती रही, क्योंकि इस विषय में कोई अंतर्राष्ट्रीय प्रणाली बनाने पर सहमति नहीं थी। विभिन्न देश अपने हिसाब से संबंधित क़ानूनों की रचना करते रहे। 1994 में हुए ट्रिप्स समझौते (बौद्धिक सम्पदा अधिकारों से संबंधित अंतर्राष्ट्रीय संधि) ने इस स्थिति को बदल दिया, क्योंकि इसके दवाब में न केवल विकासशील देशों को बौद्धिक सम्पदा संरक्षण का ढाँचा खड़ा करना पड़ा, बल्कि विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यूटीओ) के सदस्य देशों के लिए भी बौद्धिक सम्पदा के न्यूनतम संरक्षण की गारंटी करना अनिवार्य हो गया।

पेटेंट के अधिकार को क़ानूनी रूप मिलने से निजी क्षेत्र द्वारा अनुसंधान और विकास पर निवेश को प्रोत्साहन मिलता है और अर्थव्यवस्था को लाभ पहुँचता है। लेकिन दूसरी तरफ इसी के कारण पेटेंट की तकनीक पर एकाधिकार के कारण अन्य अनुसंधानकर्ता उसका प्रयोग नहीं कर पाते जिससे नया अनुसंधान बाधित होता है। जैसा कि हम जानते हैं कि निजी सम्पत्ति का सौदा किया जा सकता है। व्यक्ति या कारपोरेशन जब चाहे स्वैच्छिक रूप से इन्हें ख़रीद-बेच सकते हैं। लेकिन, बौद्धिक सम्पदा अधिकारों को जैसे ही पेटेंट में बदला जाता है, वैसे ही एक निश्चित अवधि के लिए उसका सौदा होने पर

रोक लग जाती है। पेटेंट की अवधि खत्म होते ही बौद्धिक सम्पदा अधिकार सार्वजनिक दायरे में आ जाता है जहाँ उसका उपयोग करने की सभी को छूट होती है। यानी फिर उसका सौदा नहीं किया जा सकता।

समझा जाता है कि अगर पेटेंट न होते तो बौद्धिक सम्पदा अधिकारों में ढाँचा ही न खड़ा हो पाता। पेटेंटों के जरिये ही नये उत्पाद बाजार में आते हैं, उनका व्यावसायीकरण होता है, उससे होने वाले मुनाफे से और अधिक अनुसंधानों को प्रोत्साहन मिलता है। चूँकि अभी तक विज्ञान और प्रौद्योगिकी की प्रगति पर सभी का मुक्त और साझा अधिकार रहा है इसलिए इस परम्परा का सम्मान करने के लिए आविष्कारक को अपनी खोज पर एक सीमित अवधि तक ही अधिकार मिलता है। इस मसले पर बहस यह है कि पेटेंट की अवधि में भी आविष्कार का ब्योरा सभी को उपलब्ध होना चाहिए या नहीं। ब्योरा उपलब्ध होने के पक्षधरों का तर्क है कि ऐसा करने से प्रौद्योगिक प्रगति में पूरा समाज बिना किसी बाधा के साझेदारी कर सकेगा। पेटेंट अधिकारों के पक्ष में दलील यह दी जाती है कि उनके कारण आविष्कारक अपनी खोज पर हमेशा के लिए कब्जा नहीं जमाये रख सकते, और ज्ञान का एक रूप गोपनीय नहीं बना रह सकता। इस संबंध में प्रौद्योगिकीय आविष्कारों और वैज्ञानिक सिद्धांतों के बीच का फ़र्क समझना भी जरूरी है। 1970 के पेटेंट अधिनियम के तहत वैज्ञानिक सिद्धांत नहीं आते, क्योंकि न तो उनकी सीधा औद्योगिक इस्तेमाल हो सकता है और न ही उन्हें सार्वजनिक दायरे से निकाल कर किन्हीं पाबंदियों के तहत लाया जाना श्रेयस्कर है ताकि उनकी गैर-मौजूदगी प्रौद्योगिकीय प्रगति को प्रभावित न कर पाये। इसी तरह प्रकृति संबंधी खोजों और मानवीय आविष्कारों के बीच का फ़र्क भी समझा जाना चाहिए। मसलन, अगर कोई ऐसा प्राकृतिक पौधा खोज निकालता है जिससे ज्यादा पैदावार हो सकती है, तो उसका पेटेंट नहीं किया जा सकता। लेकिन, अगर कोई नयी रासायनिक दवा खोज लेता है तो उसका पेटेंट किया जा सकता है। बीसवीं सदी के मध्य में वनस्पतियों को पेटेंट करने के प्रस्ताव पर जम कर बहस हो चुकी है। दो नजरियों से इस प्रस्ताव का विरोध हुआ था। पहला, वनस्पतियाँ कुदरत का हिस्सा हैं और उन्हें सार्वजनिक दायरे में ही रखा जाना चाहिए। दूसरा, अगर इनका भी पेटेंट किया जाने लगा तो मौजूदा पेटेंट प्रणाली का ही अवमूल्यन हो जाएगा और बहुत कम प्रयासों के जरिये की जाने वाली खोजें भी पेटेंट की जाने लगेंगी। बाद में इन दोनों स्थितियों से एक समझौता निकला और वनस्पति ब्रीडर अधिकारों का सूत्रीकरण हुआ जिनके तहत मिलने वाले पेटेंट अपेक्षाकृत कमतर और विभिन्न स्तरों के होते हैं।

1980 तक प्रकृति की रचनाओं को पेटेंट नहीं किया जाता था। लेकिन, सुप्रीम कोर्ट के एक फैसले ने इस हालत

को बदल दिया। अब जीवन रूपों को पेटेंट करने के प्रावधानों पर विचार किया जा रहा है। लेकिन, यह बहस वनस्पति रूपों को पेटेंट करने वाली बहसों से भी तीखी है। जैव इंजीनियरिंग उद्योग के बड़े खिलाड़ी चाहते हैं कि पेटेंटों का दायरा और बढ़े जिसका विरोध नैतिक, पर्यावरणीय और सामाजिक तर्कों के आधार पर किया जा रहा है। इसके खिलाफ़ एक दलील यह भी है कि अगर माइक्रो ऑर्गनिज़्म जैसी चीज़ें पेटेंट कर ली जाएँगी तो छोटी अनुसंधान कम्पनियाँ अपनी रिसर्च कैसे करेंगी। इन तमाम बहसों के बावजूद आज स्थिति यह है कि पेटेंट संरक्षण का दायरा बढ़ता जा रहा है। नतीजे के तौर पर अनुसंधानकर्ताओं को अब पहले की तरह आगे शोध करने के लिए सामग्री ही नहीं मिल पाती है। ज्ञान की उन्मुक्त उपलब्धि में कटौती भी हो गयी है। मसलन, अब वनस्पति जेनेटिक संसाधनों का पहले की तरह खुला आदान-प्रदान नहीं होता। बौद्धिक सम्पदा संरक्षण क़ानूनों को पारम्परिक ज्ञान के संरक्षण के लिए भी इस्तेमाल करने करने की चर्चा भी शुरू हो गयी है। इसे भी दोनों तरीकों से देखा जा सकता है : इससे पारम्परिक ज्ञान-धारकों के अधिकारों की रक्षा भी हो सकती है, और शोध के लिए बुनियादी सामग्री की उपलब्धि और सीमित होने का खतरा भी है। बौद्धिक सम्पदा संरक्षण में हुए परिवर्तनों से लोगों की निजी जिंदगी पर भी असर पड़ा है। मेडिकल पेटेंटों के कारण दवाओं की उपलब्धता प्रभावित हुई है जो मानवाधिकारों से जुड़ा मसला है।

देखें : अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम, पेटेंट, ब्रेटन वुड्स प्रणाली, भूमण्डलीकरण : भारतीय अर्थव्यवस्था का, भारत में पेटेंट क़ानून, भारत में बहुराष्ट्रीय निगम, भारत में शेरर संस्कृति, भूमण्डलीकरण, भूमण्डलीकरण का इतिहास-1 और 2, भूमण्डलीकरण और बेरोज़गारी, भूमण्डलीकरण और ग़रीबी, भूमण्डलीकरण और पूँजी बाजार, भूमण्डलीकरण और लोकतंत्र, भूमण्डलीकरण और राज्य, भूमण्डलीकरण और राष्ट्रीय सम्प्रभुता, भूमण्डलीकरण और वित्तीय पूँजी, भूमण्डलीकरण और वित्तीय उपकरण, भूमण्डलीकरण के आलोचक, भूमण्डलीकरण के खिलाफ़ प्रतिरोध, विश्व बैंक, विश्व व्यापार संगठन।

संदर्भ

1. फ़िलिप कुलेट (2008), *बौद्धिक सम्पदा अधिकार और टिकाऊ विकास*, आलेख : अभय कुमार दुबे, इंस्टीट्यूट फॉर डेमोक्रेसी ऐंड सस्टेनेबिलिटी, वाणी, नयी दिल्ली.
2. डंकन मैथ्यूज़ (2002), *ग्लोबलाइज़िंग इंटेलेक्चुअल प्रापर्टी राइट्स : द ट्रिप्स एग्रीमेंट*, लंदन, रॉटलेज.
3. जयश्री वट्टल (2001), *इंटेलेक्चुअल प्रापर्टी राइट्स इन डब्ल्यूटीओ ऐंड डिवेलपिंग कंट्रीज़*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

—अभय कुमार दुबे

ब्रह्मचर्य / सेलिबेसी

(Brahmcharya/Celibacy)

इंद्रियनिग्रह के आग्रह से संबंधित होने के कारण आम तौर पर समझा जाता है कि ब्रह्मचर्य और सेलिबेसी समानार्थक पद हैं। दरअसल, इन दोनों विचारों और परिघटनाओं के इतिहास, निहितार्थों और विमर्श में अंतर है। सेलिबेसी एक पश्चिमी अवधारणा है जिसका विकास ईसाइयत के साथ-साथ हुआ है। ओल्ड टेस्टामेंट के ज़माने में पुरोहितों के लिए सेलिबेसी का कोई विधान नहीं था। ईसाई धर्मशास्त्र में सेलिबेसी पर जोर देने की शुरुआत बारहवीं सदी में हुई। इसके पीछे मंशा यह थी कि चर्च की सम्पत्ति विवाहित ईसाई पुरोहितों की संतानों के पास उत्तराधिकार में न जाने पाये। इसके बाद ही धर्मशास्त्रीय व्याख्याकारों ने सेलिबेसी को एक ईश्वरीय गुण के रूप में चित्रित करना शुरू किया, और इसके स्वर्गिक लाभों की चर्चा होने लगी। भारतीय संदर्भ में ब्रह्मचर्य का विचार कहीं पुराना है। ढाई हजार साल पहले रचे गये वात्स्यायन के *कामसूत्र* में भी ब्रह्मचर्य की महिमा का वर्णन है। वात्स्यायन सफल प्रेमी उसे नहीं मानते जिसकी भावोत्तेजना बहुत बढ़ी हुई होती है, बल्कि उसे मानते हैं जिसने ब्रह्मचर्य और ध्यान के जरिये इंद्रियों को क्राबू में कर रखा है। *मनुस्मृति* के अनुसार ब्रह्मचर्य आयु आधारित आश्रम-व्यवस्था का पहला सोपान है। इसके बाद गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थ और संन्यास के सोपान आते हैं। चौदह से पच्चीस वर्ष की आयु तक चलने वाले ब्रह्मचर्य को हर उस व्यक्ति के जीवन की एक खास अवधि के लिए अनिवार्य बताया गया है जो द्विज समाज का सदस्य है। यह अवधि उपनयन संस्कार होने से शुरू हो कर किशोरावस्था खत्म होने तक जारी रहती है, और मुख्यतः विद्याध्ययन से जुड़ी है। हिंदुओं के साथ-साथ ब्रह्मचर्य का विचार श्रमण परम्परा में भी मौजूद है। हिंदू, बौद्ध और जैन संन्यासी आजीवन ब्रह्मचारी रहने का व्रत लेते हैं। लेकिन आधुनिक भारत में ब्रह्मचर्य का विमर्श केवल इन्हीं पारम्परिक निर्देशों तक ही सीमित न रह कर पश्चिमीकरण के प्रतिकार की तरह स्थापित हुआ और राष्ट्र-निर्माण के राजनीतिक विमर्श से गुंथ गया। ब्रह्मचर्य के विमर्श ने राष्ट्र-निर्माण की परियोजना पर पितृसत्ता की मुहर लगाने की भूमिका भी निभायी है। मनोविज्ञान और सेक्सुअलिटी स्टडीज़ ने इस विषय पर विशेष रूप से गौर किया है।

समाज-मनोविद् सुधीर कक्कड़ ने अपनी बहुचर्चित रचना *गाँधी और स्त्रियाँ* में ब्रह्मचर्य संबंधी आम समझ के बारे में विस्तार से चर्चा की है। कक्कड़ के अनुसार भारतीय

संस्कृति में कला की श्रृंगारिक रूपसज्जा और धार्मिक कर्मकाण्डों के कामविषयक पहलुओं की उपेक्षा नहीं की जा सकती, लेकिन इसके बावजूद हमारा सांस्कृतिक जगत कामुकता को जीत कर आध्यात्मिक शक्ति में उसके रूपांतरण की आकांक्षा से भी भरा हुआ है। चाहे पढ़े-लिखे भारतीय हों या अनपढ़ ग्रामीण, चाहे वे किसी भी जाति के हों, उनके बीच यह आकांक्षा पलती ही रहती है कि किसी न किसी तरह सेक्सुअलिटी का उदात्तीकरण करके उसे आध्यात्मिकता में बदला जाए। भले ही चिकित्सा विज्ञान या भौतिकशास्त्र इस समझ को उपहास की दृष्टि से देखें, समाज में व्यापक रूप से मिलने वाले सेक्सुअल विमर्श का आधारभूत तर्क पुरुष के शिश्न से निकलने वाले तरल पदार्थ यानी वीर्य को शारीरिक और मानसिक ताकत का स्रोत करार देता है। सम्भोग के कारण यह वीर्य नीचे की तरफ आ कर स्खलित हो जाता है। अगर इसे बाहर निकलने से रोका जा सके यानी स्त्री के संसर्ग से बचा जा सके यानी ब्रह्मचर्य का पालन किया जा सके तो यही वीर्य मेरुदण्ड के सहारे ऊपर की तरफ यात्रा करके मस्तिष्क में पहुँच कर ओजस का परिष्कृत रूप ग्रहण कर लेता है।

इन लोक-प्रचलित तर्कों को पुष्ट करने के लिए कई तरह की शरीरशास्त्रीय दलीलें भी गढ़ ली गयी हैं। मसलन, कहा जाता है कि प्रत्येक श्रृंगारिक भावावेग करोड़ों लाल रक्त-कोशिकाओं को नष्ट कर देता है। या, वीर्य की एक बूँद बनाने में खून की चालीस बूँदें खप जाती हैं। हर बार स्खलन से करीब आधा औंस वीर्य नष्ट हो जाता है, यानी साठ पाउंड रक्त से पैदा हो सकने वाली जीवनी-शक्ति बर्बाद हो जाती है। भारतीय संस्कृति की अध्येता वेंडी ओ'फ्लाहरटी बताती हैं कि वीर्य के मस्तिष्क तक उठने की अवधारणा इतनी व्यापक है कि दर्शन के प्रचलित संस्करणों में तो मस्तिष्क को ही वीर्य का उद्गम मान लिया गया है। मस्तिष्क और वीर्य को परस्पर सम्बद्ध मान लेने के कारण समाज में वीर्य संबंधी दुश्चिंताएँ पैदा हो जाती हैं, और साधारणतः होने वाले स्वप्न-दोष को भी कच्ची उम्र के युवक शुक्राणुओं की ऐसी भीषण बर्बादी के रूप में देखते हैं जिसकी भरपाई कभी नहीं हो सकती। इस तरह के विचारों और फ्रैंटेसियों के कारण ही भारतीय पुरुषों में एक तरह का द्वैध पैदा हो जाता है जिसके कारण वे स्त्री-दोषी बन कर कभी-कभी औरतों से कतराने की हद तक चले जाते हैं। चूँकि शक्ति का आगार वीर्य को माना गया है, इसलिए वीर्य की क्षति, चाहे जानबूझ कर की जाए या अनजाने में हो जाए, दोनों ही हालतों में नैतिक दोष की तरह उभरती है और इससे पाप-बोध पैदा होता है।

वीर्य और ब्रह्मचर्य संबंधी पूरी तरह से अवैज्ञानिक धारणाओं को और अधिक पुष्ट करने में गाँधी की भूमिका रेखांकित करते हुए सुधीर कक्कड़ तंत्र संबंधी विचारों में

उनकी रुचि का उल्लेख करते हैं। तंत्र अपने साधकों को निर्देश देता है कि यौनक्रिया को कामनाहीन होना चाहिए। अगर ऐसा हो सके तो इससे ऊर्जावान शक्तियाँ पैदा होती हैं जिन्हें ऊर्ध्वगामी बनाया जा सकता है। गाँधी ने 46 वर्ष की अवस्था में ब्रह्मचर्य व्रत ले लिया था। उसके बाद जब भी उन्हें यौनकामनाएँ सतातीं तो वे उसे अपनी कमजोरी मानते और उसे अपनी राजनीतिक विफलताओं से जोड़ कर देखते थे। उन्हें लगता था कि अगर वे ब्रह्मचर्य का अभंग पालन कर पाएँगे तो उनके भीतर इतनी मानसिक शक्ति आ जाएगी कि पूरे उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन से अपनी बात मनवा पाएँगे।

गाँधी की ब्रह्मचर्य संबंधी समझ का एक ऐसा भी पहलू है जो उसे इस विमर्श के पुरुष-केंद्रित मुहावरे से अलग करता है। वे स्त्रियों से अपेक्षा करते हैं कि वे अपने पत्नी-रूप के बजाय मातृ रूप को प्राथमिकता देते हुए ब्रह्मचर्य का पालन करें। लेकिन गाँधी के अलावा ब्रह्मचर्य का विमर्श स्त्रियों को आम तौर पर नकारात्मक निगाह से ही देखता है।

ब्रह्मचर्य-संबंधी लोकप्रिय विमर्श का सामाजिक नृतत्वशास्त्री जोसेफ आल्टर ने भी विशेष अध्ययन किया है। उन्होंने अपनी दो रचनाओं *सेलिबेसी, सेक्सुअलिटी, ऐंड द ट्रांसफॉर्मेशन ऑफ जेंडर इनटु नैशनलिज्म इन नॉर्थ इण्डिया* और *अ मॉडर्न साइंस ऑफ़ मेल सेलिबेसी इन नॉर्थ इण्डिया* में दिखाया है कि किस तरह पूरे उत्तर भारत में सस्ती कीमत की पुस्तिकाओं, परचों और स्वास्थ्य संहिताओं के ज़रिये इंद्रियनिग्रह, आत्म-नियंत्रण और ब्रह्मचर्य का पालन करने की घरेलू युक्तियों का प्रचार किया जाता है। इस फ़ुटपाथी और सस्ते साहित्य में ब्रह्मचर्य का विचार पश्चिमीकरण की प्रक्रिया के निदान और प्रतिकार के रूप में उभरता है। इसके माध्यम से प्राचीन भारत का पवित्र और ऐंद्रिकता के प्रदूषण से मुक्त चित्र खींचा जाता है। आल्टर के मुताबिक यह सस्ता साहित्य आम तौर पर ब्राह्मण जाति के लेखकों द्वारा रचा गया है, लेकिन इसके प्रति आकर्षण केवल ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों में ही नहीं है, बल्कि वर्णाश्रम के लिहाज से शूद्र समझी जाने वाली किसान जातियाँ और यहाँ तक कि दलित जातियाँ भी इसके प्रति आकर्षण महसूस करती हैं। इसके पीछे हनुमान-पूजा की परिघटना भी है जो उत्तर भारत में व्यापक रूप से पायी जाती है।

आल्टर के मुताबिक यह पूरा विमर्श पुरुष-वीर्य के अधिकाधिक संरक्षण के इर्द-गिर्द गोलबंद किया गया है। इसमें स्त्री की मौजूदगी एक विचलनकारी तत्त्व की तरह आती है, क्योंकि स्त्री-संसर्ग की इच्छा से ही ब्रह्मचारी का तप भंग होता है। फिर, इस विमर्श के साथ जिस शरीरशास्त्रीय सिद्धांत का प्रचार किया जाता है, उसमें स्त्री की

योनि से निकलने वाले तरल को पुरुष के वीर्य के मुकाबले कमतर दर्जा दिया जाता है। अगर इस सेक्सुअलिटी विमर्श को पार्थ चटर्जी द्वारा व्याख्यायित उन्नीसवीं सदी में विकसित भारतीय राष्ट्रवाद के विमर्श के सापेक्ष रख कर देखा जाए तो स्पष्ट हो जाता है कि यह उस राष्ट्रवाद और उसके साथ-साथ पनपे उदारतावाद पर लगी पितृसत्तात्मक छाप के कितना अनुकूल है।

ईसाई संदर्भों में सेलिबेसी का विचार उत्तरोत्तर विवादास्पद होता जा रहा है। समझा जाता है कि अफ्रीकी महाद्वीप में चर्च इस समय सबसे ज़्यादा मज़बूत स्थिति में है, और वहीं पुरोहितों की सेलिबेसी सर्वाधिक प्रश्नांकित हो रही है। अफ्रीकी समाजों में सेलिबेट पुरुष परम्परागत रूप से कमतर माना जाता है, इसीलिए वहाँ अनगिनत ईसाई पुरोहित अनधिकृत रूप से विवाहित बने रहते हैं। पादरियों द्वारा ननों से बलात्कार के कई मामले सामने आ चुके हैं। ऑस्ट्रेलिया में नैशनल काँसिल ऑफ़ प्रीस्ट्स ने वेटिकन को प्रतिवेदन दिया है कि पुरोहितों को विवाह करने की इजाज़त दी जाए। इस प्रतिवेदन पर 1,700 पादरियों ने दस्तखत किये थे।

देखें : अंतरंगता, पुरुषत्व, प्रेम, प्रेम-अध्ययन और नारीवादी दर्शन, फिल्म और सेक्सुअलिटी, सेक्सुअलिटी, सेक्सुअलिटी-अध्ययन।

संदर्भ

1. सुधीर कक्कड़ (2007), 'गाँधी और स्त्रियाँ', *अंतरंगता का स्वप्न: भारतीय समाज में प्रेम और सेक्स*, अनु. अभय कुमार दुबे, वाणी-सीएसडीएस, नयी दिल्ली.
2. जोसेफ़ एस. आल्टर (1997), 'सेलिबेसी, सेक्सुअलिटी, ऐंड द ट्रांसफॉर्मेशन ऑफ़ जेंडर इनटु नैशनलिज्म इन नॉर्थ इण्डिया' और 'ए मॉडर्न साइंस ऑफ़ मेल सेलिबेसी इन नॉर्थ इण्डिया', *द जरनल ऑफ़ एशियन स्टडीज़*, खण्ड 53, अंक 1; *मेडिकल एंथ्रॉपोलॉजी क्वार्टरली*, न्यू सीरीज़, खण्ड 11, अंक 3.
3. पार्थ चटर्जी (1990), 'द नैशनलिस्ट रेजोल्यूशन ऑफ़ वुमन क्वेश्चन', *कुमकुम संगारी और स्वदेश वैद (सम्पा.)*, रिकास्टिंग वुमन : एसेज़ इन इण्डियन कोलोनियल हिस्ट्री, रटगर्स युनिवर्सिटी प्रेस, न्यू ब्रंसविक.
4. वेंडी डोनिगर ओ'फ़्लाहर्टी (1973), *एसेटिसिज़म ऐंड इरोटिसिज़म इन द मायथोलॉजी ऑफ़ शिवा*, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, लंदन.

— अभय कुमार दुबे

ब्रेटन वुड्स प्रणाली

(Bretton Woods System)

ब्रेटन वुड्स प्रणाली उस अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक बंदोबस्त का नाम है जिसे द्वितीय विश्व-युद्ध से ठीक पहले अगस्त, 1944 में अमेरिका के नेतृत्व में पश्चिमी ताकतों ने 44 राष्ट्रों के एक सम्मेलन के जरिये खड़ा किया था। इस सम्मेलन का औपचारिक नाम था इंटरनैशनल मोनेटरी ऐंड फाइनेंशियल कांफ्रेंस ऑफ द यूनाइटेड ऐंड एसोसिएटेड नेशंस। चूँकि इसका आयोजन न्यू हैमशायर की एक छोटी सी सैरगाह ब्रेटन वुड्स में किया गया था इसलिए इसे संक्षेप में इसी नाम से जाना जाने लगा। ब्रेटन वुड्स सम्मेलन में लिए गये फ़ैसले न केवल युद्ध के बाद युरोप को आर्थिक तबाही से उबारने का आधार बने, बल्कि वाणिज्यिक और वित्तीय आचरण का एक ऐसा ढाँचा तैयार हुआ जो ब्रेटन वुड्स व्यवस्था के खात्मे के कई दशक बाद भी कारगर बना हुआ है। ब्रेटन वुड प्रणाली के तहत ही विश्व बैंक (इंटरनैशनल बैंक फ़ॉर रिकंस्ट्रक्शन ऐंड डिवेलपमेंट), अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (आईएमएफ) और जनरल एग्रीमेंट ऑफ टैरिफ़्स ऐंड ट्रेड (गैट) की स्थापना की गयी। गैट के वार्ता-चक्रों में से ही आगे चल कर विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यूटीओ) का जन्म हुआ जो इस समय वैश्विक अर्थव्यवस्था के शिखर पर है। इस कांफ्रेंस की संकल्पना और कामयाबी में अमेरिका के अर्थमंत्री हैरी व्हाइट और ब्रिटेन के प्रमुख अर्थशास्त्री जॉन मेनार्ड कींस की प्रमुख भूमिका थी। दिलचस्प बात यह है कि अमेरिका और ब्रिटेन के अलावा जिन 42 देशों ने इस कांफ्रेंस में शिरकत की थी उनमें सोवियत संघ का प्रतिनिधि भी शामिल था। लेकिन अमेरिकी प्रभुत्व के मुकाबले वह इस सम्मेलन की कार्यवाही और निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित करने में नाकाम रहा। इसलिए सोवियत संघ और उसके मित्र देशों ने इसके संस्थागत बंदोबस्त को मानने से इनकार कर दिया।

दरअसल, ब्रेटन वुड्स जैसा सम्मेलन करने की योजना अमेरिका 1942 से ही बना रहा था जब उसने धुरी राष्ट्रों (जर्मनी, इटली और जापान) के खिलाफ युद्ध की घोषणा भी नहीं की थी। वाशिंगटन में बैठे हुए अमेरिकी नीति-निर्माताओं का विचार यह था कि दोनों विश्व-युद्धों के बीच आयी महामंदी और फ़ासीवाद के उभार की जड़ में विभिन्न देशों द्वारा अपनायी जाने वाली भेदभावपूर्ण व्यापार नीतियाँ हैं। 1941 में ही रूज़वेल्ट की सरकार ने एक खुली व्यापार व्यवस्था बनाने का कार्यभार अपनी विदेश नीति का प्रमुख लक्ष्य बना लिया था। इसकी अभिव्यक्ति अटलांटिक चार्टर में भी हुई। 1942 में ब्रिटेन के साथ हुए अमेरिका के लैण्ड-

लीज़ एग्रीमेंट का आधार भी यही नीति थी। लैण्ड-लीज़ एक्ट के जरिये अमेरिकी राष्ट्रपति को अधिकार मिला कि वह धुरी राष्ट्रों के खिलाफ लड़ रहे देशों को जंग का साज-सामान सप्लाई करने का आदेश दे सकें। अमेरिका के साथ इस तरह के समझौतों में ब्रिटेन की तरफ से अर्थशास्त्री कींस की भूमिका निर्णायक थी। रूज़वेल्ट प्रशासन कींस को बहुत अहमियत देता था। कींस के आर्थिक सूत्रीकरणों ने रूज़वेल्ट की न्यू डील नीति को प्रेरित किया था। दूसरे, कींस की भी मान्यता थी कि 1930 की महामंदी व्यापार अधिशेष बढ़ाते चले जाने की अंतर्राष्ट्रीय होड़ का नतीजा है। इसलिए वे चाहते थे कि एक ऐसी अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था बनायी जाए जिससे कोई देश किसी दूसरे देश की क्रीमत पर व्यापार अधिशेष न बनाये रख सके। उनका विचार था कि लगातार अधिशेष में रहने वाले देशों को दण्डित करने का प्रावधान भी समझौते में रखा जाए। पर अमेरिका को यक्रीन था कि युद्ध ने उसकी विनिर्माण क्षमताओं को नष्ट नहीं किया है, इसलिए वह व्यापार के मामले में अपना बोलबाला क्रायम रख सकता है। कींस आखिरी दम पर अमेरिकी प्रभाव के खिलाफ संघर्ष करते रहे। इसी तनाव में उन्हें दिल का दौरा पड़ा जिसके कारण उनका देहांत हो गया।

अमेरिका खुद को एक उभरती हुई महाशक्ति मान रहा था, और उसका यह आकलन ग़लत भी नहीं था। महामंदी से निकलने के बाद से उसका औद्योगिक उत्पादन दूना हो चुका था। उसकी अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोज़गार की स्थिति थी और वह युरोप और प्रशांत क्षेत्र में युद्ध जीतने के करीब था। उसके पास पश्चिमी देशों में सबसे बड़ी फ़ौज थी और केवल उसकी अर्थव्यवस्था को ही ग्लोबल पैमाने पर सक्रिय और प्रभावी अर्थव्यवस्था की संज्ञा दी जा सकती थी। इसलिए कींस के आग्रहों के विपरीत अमेरिका ने पूँजी की गतिशीलता और मुक्त व्यापार पर आधारित निज़ाम बनाने का प्रस्ताव रखा। कींस चाहते थे कि एक आरक्षित विश्व मुद्रा कोष बनाया जाए जिसके जरिए वित्तीय घाटे में चल रहे देशों को व्यापार के दौरान कमाये गये अधिशेष का वितरण किया जा सके।

कींस के इरादों को आंशिक रूप से नाकाम करने के बाद विश्व अर्थव्यवस्था का जो ढाँचा बना वह इस प्रकार का था : विश्व बैंक का काम था युद्ध में तबाह हुए देशों को बड़े पैमाने पर ऋर्ज़ देना ताकि वे अपना आर्थिक पुनर्निर्माण कर सकें, आईएमएफ का काम था अपने सदस्य देशों के बीच निर्धारित विनिमय दर का प्रबंधन करना, और गैट के जरिये व्यापार में भेदभावपूर्ण आचरण को दुरुस्त किया जाना था। ब्रेटन वुड्स प्रणाली के केंद्र में थी निर्धारित विनिमय दर जिसके तहत विश्व की सभी मुद्राओं का आकलन आईएमएफ द्वारा डॉलर के मुताबिक किया जाना था और



ब्रेटन वुड्स कांफ्रेंस में जान मेनार्ड कीस अमेरिकी प्रतिनिधि हेरी डेक्स्टर व्हाइट के साथ.

डॉलर का मूल्य स्वर्ण-मानक के हिसाब से तय होना था। अमेरिका के पास उस समय 25 अरब डॉलर की क्रीमत का सोना जमा था (मात्रा में दुनिया भर के सोने का 75 फ्रीसदी)। समझौते के तहत अमेरिका का वायदा था कि वह माँग किये जाने पर डॉलर के बदले उसकी तयशुदा कीमत का सोना अदा करेगा।

क़रीब पच्चीस साल तक ब्रेडन वुड्स प्रणाली का बोलबाला क़ायम रहा। विश्व युद्ध से तबाह हुआ अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था इसी के ज़रिये उबरी। लेकिन एक दीर्घकालीन आर्थिक रणनीति के रूप में यह अपनी ख़ामियों से परे नहीं जा पायी। ब्रेटन वुड्स समझौते के पाँच साल बाद एक नया गुल खिला। 1949 में सत्तारूढ़ होने के फ़ौरन बाद चीन की कम्युनिस्ट सरकार ने अपनी डॉलर आमदनी को अमेरिकी सरकार की पहुँच से बचाने के लिए पेरिस में *बाँका कॉमहसियाल पौर ल 'युरोप द नॉर्ड'* नामक बैंक में जमा करना शुरू कर दिया। ख़ास बात यह थी कि इस बैंक की मिल्कियत सोवियत संघ के हाथ में थी और इसके बेतार के तार का पता था 'युरो बैंक'। चीनियों को देखा-देखी रूसियों ने भी अपनी डॉलर आमदनी या तो पेरिस के बैंक में या फिर लंदन के *मास्को नरोदनी बैंक* में जमा करनी शुरू कर दी। युरोप के बैंकरों ने देखा कि उनके बैंकों में एक ऐसी विपुल डॉलर राशि जमा है जो न तो जमा करने वाले देश के नियम-क़ानूनों से नियंत्रित होती है और न ही ब्रेटन वुड्स प्रणाली के तहत आती है। इस ख़ास चरित्र के कारण यह विपुल राशि डॉलरों का व्यापार करने के लिए उपलब्ध थी। ये ही डॉलर पेरिस के बैंक के पते की तर्ज़ पर युरो डॉलर कहलाये। युरो

डॉलर मार्केट का जन्म हुआ जिसकी कभी ख़ुफ़िया और कभी खुली गतिविधियाँ ब्रेटन वुड्स प्रणाली के नियामक अमेरिका को चिंतित करती रहीं। यह बाज़ार अमेरिका से भी डॉलरों को अपनी ओर खींचने में लगा हुआ था। अमेरिका ने इस प्रक्रिया को रोकने के लिए क़ानून तक बनाया, पर उससे भी काम नहीं चला।

साठ के दशक में जब अमेरिका में मुद्रास्फीति बढ़ी और डॉलर कमज़ोर होना शुरू हो गया तो सारी दुनिया में डॉलरों को सोने में भुनाने की होड़ मच गयी। इस तरह के विनिमय का अधिकार ब्रेटन वुड्स समझौते के तहत उपलब्ध था। सत्तर के दशक तक अमेरिका का स्वर्ण-भंडार दस अरब डॉलर से भी कम का रह गया। अगस्त, 1970 में राष्ट्रपति निक्सन ने एकतरफ़ा कार्रवाई करके डॉलरधारियों से यह अधिकार छीन लिया जिससे ब्रेटन वुड्स प्रणाली ध्वस्त हो गयी। निर्धारित विनिमय दर के बजाय चलायमान विनिमय दर प्रारम्भ हुई। अर्थशास्त्र की भाषा में यह मुक्त बाज़ार के बिना वित्तीय पूँजी के भूमण्डलीकरण की शुरुआत थी। 1914 के बाद यह पहला मौक़ा था जब पूँजी किसी निश्चित नियम-क़ानून के अधीन नहीं थी।

गैट के उत्तराधिकारी के रूप में इस समय विश्व व्यापार संगठन ग्लोबल आर्थिक निज़ाम में केंद्रीय भूमिका निभा रहा है। विशेषज्ञों की मान्यता है कि सारी दुनिया की अर्थव्यवस्थाओं में बढ़ती हुई बेरोज़गारी की दर के साथ-साथ अफ़्रीका, एशिया और लातीनी अमेरिका के कई देशों की बढ़ती हुई ग़रीबी भूमण्डलीकरण की दावेदारियों को बहुत ज़्यादा दिनों तक नहीं टिकने देगी। इसके परिणामस्वरूप ब्रेटन वुड्स सरीखी एक और कांफ्रेंस की सम्भावनाएँ पैदा हो सकती हैं और उसके आधार पर विश्व अर्थव्यवस्था को नये सिरे से विन्यस्त किया जाएगा।

देखें : अर्थ-विज्ञान का समाजशास्त्र, आर्थिक जनसांख्यिकी, अल्फ्रेड मार्शल, अमर्त्य कुमार सेन, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, आधार और अधिरचना, ऑस्कर रायज़ार्ड लांगे, ऐडम स्मिथ, करारोपण, कल्याणकारी अर्थशास्त्र, क्लासिकल अर्थशास्त्र, कार्ल हाइनरिख मार्क्स-3, कार्ल मेंगर, कींसियन अर्थशास्त्र, गुन्नार मिर्डाल, जोआन रोबिंसन, जॉन कैनेथ गालब्रेथ, जॉन मेनार्ड कीस, जॉन स्टुअर्ट मिल, जोसेफ़ शुमपीटर, जैव विविधता, ट्रस्टीशिप, डेविड रिकार्डो, ढाँचागत समायोजन कार्यक्रम, थॉमस मन और वणिक्वाद, थॉमस रॉबर्ट माल्थस, दक्षता, धन, नियोक्लासिकल अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र, निकोलस काल्दोर, नियोजन, नियोजन : मार्क्सवादी विमर्श, पण्य, पण्य-पूजा, पेटेंट, पॉल सेमुअलसन, पियरो स्नाफ़ा, पूँजी, प्रतियोगिता, फ़्रांस्वा केस्ने और प्रकृतिवाद, फ्रेड्रिख वॉन हायक, बहुराष्ट्रीय निगम, बाज़ार, बाज़ार की विफलताएँ, बाज़ार-समाजवाद, बौद्धिक सम्पदा अधिकार, भारत में बहुराष्ट्रीय निगम, भारत में नियोजन, भारत में पेटेंट क़ानून, भारत में शेरर संस्कृति, भूमण्डलीकरण और पूँजी बाज़ार, भूमण्डलीकरण और वित्तीय पूँजी, भूमण्डलीकरण और वित्तीय उपकरण, मार्क्सवादी अर्थशास्त्र, मिल्टन फ्रीडमैन, मूल्य, राजकोषीय

नीति और मौद्रिक नीति, रॉबर्ट ओवेन, विलफ्रेडो परेडो, विश्व व्यापार संगठन, विश्व बैंक, विलियम पेटी, विलियम स्टेनली जेवंस, वैकासिक अर्थशास्त्र, शोषण, साइमन कुज्नेत्स।

संदर्भ

1. एस. हॉज (1990), 'एसेसिंग द वर्ल्ड इकॉनॉमी : द राइज़ एंड फ़ाल ऑफ़ ब्रेटन वुड्स', संकलित : डी. हैगलुंड और एम. हॉज (सम्पा.), *वर्ल्ड पॉलिटिक्स, पावर, इंटरडिपेंडेंस, एंड डिपेंडेंस*, हारकोर्ट ब्रेस जोवानोविच, टोरोंटो.

2. ई. हेलीनेर (1996), *स्टेट्स ऐंड द रिइमरजेंस ऑफ़ द ग्लोबल फ़ाइनेंस : फ़ॉर्म ब्रेटन वुड्स टु द 1990ज़*, कॉर्नेल युनिवर्सिटी प्रेस, इथाका, न्यूयॉर्क.
3. जी. शिल्ड (2002), *ब्रेटन वुड्स ऐंड डम्बार्टन ओक्स : अमेरिकन पोस्टवार प्लौनिंग इन द समर ऑफ़ 1944*, सेंट मार्टिस प्रेस, न्यूयॉर्क.
4. दीपक नैयर (2002), 'ग्लोबलाइज़ेशन वंस मोर', *बिबलियो*, विशेषांक, मार्च-अप्रैल.

— अभय कुमार दुबे